...-त्रयी

सरयू उपाध्याय

मूल्य आठ आना

मीमांसा--त्रयी

या

विचार—त्रयी

अर्थात्

दानधर्म, विधवाश्रम और गोरक्षा के सम्बन्ध में
गवेषणापूर्ण संक्षिप्त विचार

लेखक—

सरयू उपाध्याय
(ज्योतिषाचार्य)

प्रकाशक—

मनुभाई चन्द्रविद्यानन्द पण्ड्या
एम. ए., एल-एल. बी., सोलीसीटर
मुंबई

का. शु. १५ सं. १९९८] [मूल्य ।।) आ.

पुस्तक मिलने के पते :-

१. मनुभाई चन्द्रविद्यानन्द पण्डया सोलीसीटर
मन्त्री-वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ
कोरोनेशन बिल्डिंग,
सी. पी. टैंक, मुंबई

२. मन्त्री,
वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ
इतवारी दरवाजा, नागपुर (सीटी)

३. वर्णाश्रम-स्वराज्य संघ, कार्यालय
बुलानाला,
काशी

४. पं. सूर्यप्रसाद उपाध्याय
मंत्री,
वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ, शाखासभा
मनियर,
बलिया

सूचीपत्र

प्राक्कथन

दान-मीमांसा

विधवाश्रम-मीमांसा

गोरक्षा-मीमांसा

प्राक्कथन

॥ ॐ तत्सत ॥

आदातारोऽथ दातारो निर्मिता येन जन्तवः
तन्तवो वा पटे श्लिष्टास्तस्मै त्यागात्मने नमः ॥१॥

गुजराती भाषाके प्रसिद्ध लेखक श्री अम्बालालजी जानी द्वारा लिखित और प्रकाशित एक गुजराती निबन्ध को देकर दानवीर सेठ लच्छीरामजी ने कहा कि आपके विचार से यदि यह पुस्तक आस्तिकता का समर्थक और लोकोपयोगी मालूम हो तो मैं इसका अनुवाद प्रकाशित करा दूं। आपही किसी से इसका हिन्दी अनुवाद करा दीजिये।

मैंने पुस्तक के एक अंश का अवलोकन सावधानी से किया तो मुझे पुस्तक का विषय उपादेय मालूम पडा, यह आस्तिकता का समर्थक भी है, भाषा परिष्कृत होने पर भी मुझे इसका हिन्दी अनुवाद इसलिये नापसन्द मालूम पड़ा कि इसके वाक्यविन्यास उपन्यास के ढंग पर हैं। विषय को समझाने के लिये अपेक्षाकृत अधिक वाक्यों का प्रयोग किया गया है। रोचकता के ऊपर विशेष ध्यान दिया है, इन्हीं कारणों से ग्रन्थ विस्तृत हो गया है। "ऐश्वर्यके प्राप्त हो जाने पर कृपण बने रहना लोकव्यवहार में हास्यास्पद होता है इतनाही

नहीं ऐश्वर्य की प्राप्ति तथा उसकी रक्षा के लिये किया गया प्रयास भी वस्तुतः निष्फल सिद्ध होता है। उचित ऐश्वर्य की प्राप्ति और उसके लिये अपेक्षित अनवरत श्रम की सफलता केवल दान से है।" यह इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है।

जिस पुस्तक का दान के साथ सम्बन्ध है उसका विस्तृत होना मुझे इसलिये नापसन्द है कि धनवान ही प्रायः दान देने के अधिकारी होते हैं वे सदा व्यवसाय में संलग्न रहते हैं। उनके यहां सदा समय का संकोच रहता है, वे विस्तृत साहित्य के देखने में अवकाश के अभाव से असमर्थ रहते हैं। यदि वे सावधानी से ऐसे ग्रंथों को न देख सकें तो ऐसे साहित्यों का जन्म, फलशून्य होता है। जो लोग साहित्य के प्रेमी हैं वे विस्तृत साहित्यों को पढकर केवल लेखक को हृदय से धन्यवाद समर्पण कर सकते हैं। दान देना अति उत्तम कर्त्तव्य है यह जानकर भी समर्थ धनवान न होने के कारण अपेक्षित दानके देने में प्रवृत न हो सकेंगे। साहित्य प्रेमी विद्वान् प्रायः धनवान् नहीं होते हैं यह तो जनता को विदित ही है, इसलिये ऐसी पुस्तक को क्रियारूप से सफल बनाने में असमर्थ सिद्ध होंगे। छोटा सां निबन्ध तो दोनों के लिये उपयुक्त हो सकता हैं। चाहे धनवान् हो या विद्वान्!

मेरी यह "मीमांसा-त्रयी" नामक निबन्ध मेरी रचना नहीं हैं दानके पोषक तथा उसके तारतम्य के प्रदर्शक प्रमाणों का संग्रह है।

भाषा के संस्कार के ऊपर विशेष रूप से ध्यान इसलिये नहीं दिया गया है कि इस निबन्ध का समावेश अलंकृत साहित्य ग्रंथों में नहीं होनेवाला है। इसको यदि स्थान प्राप्त करने की अपेक्षा होगी तो यह धर्म ग्रन्थों का आश्रय लेगा। दान के सम्बन्ध में प्रमाणग्रन्थों में अनेक वचन मिलते हैं विस्तार के भय से अधिक वचनों का संग्रह नहीं किया गया है।

दान देनेवाले तथा दान लेनेवाले व्यक्तियोंका वर्गीकरण असम्भव है। विचारदृष्टिसे देखा जाय तो यह सहज में ही विदित हो जायगा कि किसी रूप में जो दाता है वह अन्य रूप में आदाता भी है। विद्या, बल, गो, हिरण्यादि के आदान-प्रदानसे और इनके प्रचुर रूप में प्रचलित रहने से समाज समृद्ध और व्यवस्थित बनता है।

समाज का प्रधान अङ्ग विद्याधन है। इसके प्रथम अधिकारी ब्राह्मण हैं, इस जातिका यह कर्तव्य है कि ये स्वयं पूर्णरूपसे विद्या प्राप्त करें तथा उदारतापूर्वक यथाधिकार उसका प्रदान करें, वे यह न समझें कि परमात्माने मुझे विद्याका अधिकारी केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धिके उद्देश्यसे बनाया है। परमात्माने तो ब्राह्मणोंको समाज-व्यवस्था का सर्वश्रेष्ठ कारण विद्याका अधिकारी समाज के कल्याणार्थ बनाया है, इनकी विद्या इनका केवल व्यक्तिगत धन नहीं है, यह धन समाजका है ये इस धनके कोषाध्यक्ष हैं, यह ये समझें।

विद्यादान सब दानोंमें श्रेष्ठ माना गया है। विद्याका दाता भी सब दाताओं में श्रेष्ठ माना गया है ब्रह्मदान और ब्रह्मदाता की प्रशंसा

शास्त्रों में विशेष रूप से पाई जाती है। इसके दान से दाताका विद्या-धन घटता नहीं आदाताको विद्याधन प्राप्त होता है, राजा या रंक सब ही श्रेणी के योग्य अधिकारी विद्याधन के आदाता बनते हैं। विद्वानों को यह करना उचित है कि परलोकोपयोगी अथवा इहलोकोपयोगी विद्याओंको प्रकाशमें लानेके लिये सदा यत्न करते रहें। किसी भी विद्याको गुप्त न रक्खें, ऐसा करना अधर्म है और समाजके प्रति महान् अन्याय है। यह तो ऊपर बताया ही गया है कि इसका आदान-प्रदान अधिकार के अनुसार होता है। विद्याओंके गुप्त रखनेका परिणाम यह हुआ है कि अनेक लोकोपयोगी विद्यायें केवल नामशेष रह गई हैं, परम्परासे जड़ी बूंटियों का तथा मन्त्र, यन्त्र, तन्त्रोंका जैसा प्रभाव सुना जाता है सम्प्रति वैसा देखा नहीं जाता, पशु-पक्षियों के भाषाज्ञान का अभाव ही देखा जाता है शकुन शास्त्र संहिता ग्रन्थोंका भी प्रचार घटता जाता है। इस अनर्थका कारण विद्वानों की कृपणता है। इस कृपणताने ही इन विद्याओंको नामशेष किया है।

वर्त्तमान में भी अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो चमत्कार से भरपूर हैं, परन्तु खेदके साथ यह कहना पड़ता है कि जिन विद्वानोंके पास वे हैं उनकी कृपणता इनको प्रकाशमें नहीं आने देती। उक्त विद्याओं के विना समाज को क्षति पहुंचती है, साहित्यका उपहास होता है, अस्तु, **"गतं न शोचामि"** जो हुआ, सो हुआ अबसे विद्वानों से प्रार्थना की जाती है कि जो विद्या जिसके पास है उसका प्रचार बढ़ावें, जनता से भी प्रार्थना की जाती है कि अप्रकाशित उत्तम साहित्य जिस

विद्वान के पास हों उससे (उनको) लेकर—बलात्कार से भी लेकर प्रकाशित करावें।

बलतत्व के प्रधान अधिकारी क्षत्रिय जाति है, यह जाति बलतत्व का दाता है तथा इसी तत्व के प्रभाव से अभय का प्रदाता है, शान्ति का व्यवस्थापक है। इस जातिके बल प्रभाव से ही जनता निर्भय रह कर अपनी जीवनी को सफल बना सकती है, बलवानों के सात्विक बल से भयभीत रहनेके कारण दुर्जन सुजनोंको त्रास देने में असमर्थ बनते हैं। बलवान् क्षत्रिय जातिका यह कर्तव्य होता है कि अपने बलतत्व की वृद्धि में सदा संलग्न रहे, सदा इस बात का ध्यान रक्खे कि इस शक्तिका उपयोग केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि में ही न होने पावे। परमात्मा की कृपा से प्राप्त इस शक्तिका प्रयोजन है समाजका संरक्षण। वह है समाज की सभ्यता का संरक्षण।

हिरण्यादि पदार्थोंका स्वामित्व विशेषतः वैश्य जाति को प्राप्त है। यह होना उचित भी है, वैश्यजाति सदा से कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि के द्वारा धनवान् रही है वर्तमान में भी है। इस जाति का यह कर्तव्य है कि अपने स्वामित्व को सार्थक बनाये रखने के लिये समाज के कल्याणार्थ अपने धनका वितरण करे, समाजका सुख इसकी उदारता पर ही निर्भर है। धनवानों को यह जानना चाहिए कि प्राप्त धनका उपयोग यह नहीं है कि अधर्मवर्द्धक कार्यों के करने-कराने में उसका व्यय कर दिया जाय। धन से यदि अधर्मका ही संग्रह जिसको इष्ट

है उसको यह जानना चाहियें कि यह धन मुझे पतनोन्मुख करने के लिये ही प्राप्त हुआ है। धनका वास्तव फल यह है कि धन के प्रदान से सुयश की प्राप्ति हो निरभिमानता प्राप्त हो समाजका आशीर्वाद प्राप्त हो।

समाज शरीर को द्रुत-गामी बनाये रहना यह शूद्र जातिका कर्तव्य है। इस जातिका यह कर्तव्य दानमें अन्तर्भूत माना गया है। इसके परिश्रम से सुरक्षित रह कर ही ब्राह्मण विद्याको, क्षत्रिय बलको तथा वैश्य व्यापार को अग्रसर कर सकते हैं। जहां तक सेवक की सहायता न हो वहांतक निश्चिन्त रहकर इनको अपने-अपने विषयके विस्तार में असमर्थ होना पड़ता है। शूद्र जाति की सेवारूपी सहायता ही दान है, दान शब्द का अर्थ सहायता भी है, इस बात को विद्वान् भलीभांति जान सकते हैं। इस जाति को भी अपनी सेवा को व्यापक बनाना चाहिये और यह समझना चाहिये कि मेरी सेवाका अर्थ किसी व्यक्ति विशेष की शुश्रूषा मात्र ही नहीं है इसका व्यापक अर्थ है समाज के संरक्षक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का संरक्षण और उपकरणों का निर्माण, यह स्पष्ट है कि अस्त्रशस्त्रादि युद्धोपकरणों के निर्माणकर्ता भी सेना के अङ्ग माने जा सकते है। केवल अस्त्र-शस्त्र के चलानेवाले सैनिक ही नहीं।

भारतवर्ष सदासे दान के महत्व को समझता आया है अब भी समझता है। इसको दान के उपदेश की आवश्यकता नहीं सी है,

परन्तु दान की प्रथा कैसी हो यह जानने की आवश्यकता है, इसी बात का संक्षेप से उल्लेख इस निबन्ध में किया गया है। यहां पर यह लिख देना धृष्टता न होगी कि वर्तमान काल में दान की प्रथा अव्यवस्थित हो गई है। जो लोग परलोक सुख को मुख्य मानकर उस की प्राप्ति के लिये लोकोपयोगी संस्थाओं का निर्माण करते हैं उनमें प्रधानता है मठ-मंदिर, अन्नक्षेत्र, और धर्मशाला की, इनकी आवश्यकता के सम्बन्ध में मतभेद होने का कोई कारण नहीं है। किन्तु जिस रूप में इनका प्रबन्ध देखा जाता है उस सम्बन्ध में मतभेद अवश्य है। निर्माणकर्त्ता इनके निर्माणकाल में जैसी उदारता और तत्परता का परिचय देते है। वैसी उदारता व तत्परता का परिचय इनके प्रबन्धकाल में नहीं देते। इनका अधिकार जिनको प्राप्त हो जाता है वे निर्भय बनकर मनमानी करते हुए अपने स्वरूप को भी खो बैठते हैं। विचारशीलों की दृष्टि में धार्मिक संस्थायें उद्देश्य से विचलित मालूम होने लगतीं हैं। ऐसी संस्थाओं के निर्माणकर्त्ताओं को यह जानना उचित है कि संस्थाओं को बना कर ही तटस्थ हो जाने से कर्त्तव्य की पूर्त्ति नहीं होती। किन्तु सदा इनके प्रबन्ध का निरीक्षण करते रहने से और इनका निरीक्षण करनेका अधिकार विश्वसनीय जनता को देने से होती है।

इसलिये आरम्भ से ही प्रयत्न कर देना आवश्यक है जिससे, कि भविष्य में संस्थायें किसी व्यक्ति विशेष की पैतृक संपत्ति न बन जायँ। हिन्दुओं ने आरम्भ से इस सम्बन्ध में प्रमाद किया है इसीसे

खेद के साथ यह लिखना पड़ता है कि पूर्वजों के कीर्तिस्तम्भ अनेक धर्मस्थान धन कुबेर होने पर भी धार्मिकता से अलिप्त दृष्टि गोचर होते हैं, इनकी धार्मिकता यह है कि लोकसंग्रह कर आर्थिक स्थिति को सुधारना और जनता में तात्विक मतभेद उपस्थित कर देना ।

अनेक दानवीर इस प्रकार के हैं जो लोककल्याणके भ्रम से विदेशी भाषा के विद्यालय, महाविद्यालय तथा भारतीय सभ्यता के विघातक समाजों को द्रव्य प्रदान करते हैं । उनको यह माळूम नहीं होता कि हम लोगों का यह दान भारतवर्ष की संस्कृति के प्रतिकूल होनेसे वास्तव में देशोपयोगी नहीं हैं, जिन विद्यालयों में अर्द्धनग्न तरुण-तरुणियां साथमें रहकर अध्ययन करें, निरंकुश व्यवहार को स्वतन्त्रता समझें ! वह संस्था भारतीय कैसे कही जा सकती है !

जनता के समक्ष यह व्यवहार स्पष्ट रूप से उपस्थित है कि ऐसे विद्यालयों में रहकर शिक्षित बने भारतीय सभ्यता के पक्षपाती इंग्लिशके विद्वानोंकी संख्या अति न्यून है । अधिक हैं उच्छृङ्खल व्यक्ति जो प्रायः संस्कार-हीन होते हैं, इतनाही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति के प्रबल विरोधी होते हैं । देवपूजा, माता, पिता और गुरुजनों की भक्ति को वे ढकोसला कहते हैं । इनमें कृतघ्नता भी कूट-कूट कर भरी रहती है जिन धनवानों की संस्थामें रहकर शिक्षित होते हैं उन्हीं धनवानों के नाश के लिये प्रकाश रूप में चाहे अप्रकाश रूप में अनेक प्रकार के उपायों का आविष्कार करते हैं । धनवानों को देशद्रोही बनानेकी चेष्टा

करते हैं। पूंजीपतियों का नाश हो इस प्रकार के नारे लगानेवाले दलों की रचना करते हैं। युक्ति-प्रयुक्ति से ऐसे दलोंकी सहायता करते हैं तथा अनेक प्रकार के बनावटी प्रलोभनों को अग्रसर कर ऐसे दलोंको सहायता देने के लिये धनवानोंको भी बाध्य करते हैं। भारतीय धनवान् भी स्वभाव के सरल होनेसे ऐसे-ऐसे कृतघ्न दलों की सहायता में संलग्न हो जाते हैं।

धर्म पाखण्ड है, ईश्वर दुर्बलहृदय की कल्पना है, वर्णाश्रम-विवेक विवेक-हीनों की मान्यता है इस प्रकार के अनेक संस्कृति-विनाशक प्रचारोंसे यह उच्छृंखल समाज सज्जनों के हृदय को आहत करता है। हिन्दू धर्म की जैसी क्षति सदियोंसे मुगल बादशाह और अंग्रेजी बादशाहोंसे न हो सकी है, वैसी क्षति हिन्दू नामधारी गृह-तस्कर उक्त उच्छृंखल दल से हो रही है। ऐसे दल या दलोंका निर्माण जिन विद्या-लय या महाविद्यालयोंसे हो उनकी स्थापना के लिये आर्थिक सहायता देना पाप है या पुण्य? देशद्रोह है या देशभक्ति? इस विषय का विचार वे लोग करें जो ऐसी-ऐसी संस्थाओंके निर्माण में तल्लीन हैं।

पाठकों के विश्वासार्थ यहां मैं राजगोपालाचार्य के मदुरावाले उस व्याख्यान का उल्लेख करता हूं जो "विश्वमित्र" दैनिक पत्र में ता० १७-१०-४१ को छपा है। मदुरा में व्याख्यान देते हुए बडे उत्साह से राजगोपालाचार्य ने कहा है " मदुरा के वर्णाश्रम स्वराज्य संघ द्वारा प्रकाशित की गई पुस्तिका के सम्बन्धमें जिसमें उक्त संस्थाने भूतपूर्व कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल को मंदिर प्रवेश सुधारके लिये दोषी

ठहराया है। श्री राजगोपालाचार्य ने कहा कि यह आरोप दरअसल में हमारी प्रशंसा हैं। जिस कार्य को मुगल बादशाह और बृटिश शासक सदियों में पूर्ण नहीं कर सके उसे यदि कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने दो वर्ष में पूर्ण कर दिया तो कांग्रेस के लिये यह गर्व का विषय है। कुछ सुधार सिर्फ राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही किये जा सकते हैं।"

राजगोपालाचार्य का यह उद्गार हिन्दी जनता के लिये भविष्य की आगाही है। आपके कहने का आशय यह है कि अधिक अंश में हिन्दू संस्कृति की मर्यादाओं को हम लोगोंने नष्ट किया है रही सही मयार्दाओं को नष्ट करेंगे, मुगल बादशाह और बृटिश शासकों की अभिलाषा को पूर्ण करेंगे। इन अनर्थों के करने पर भी स्वराज्य के प्रलोभन में डाल कर हम भोले-भाले भारतवासियों को अपना पक्ष-पाती बनाये रहेंगे।

भारतीय संस्कृति के पक्षपाती यह जान लें कि राजगोपाला-चार्य वही मद्रासी ब्राह्मण है जिसने अपनी पुत्री का विवाह वैश्य श्री गांधीजी के पुत्र से कर अपने हिन्दुत्व का परिचय दिया है। इनका स्वराज्य कैसा होगा और इनकी सहायता भारतवर्ष का उपकार है या अपकार? जिन कारखानों से ऐसी मूर्तियां ढलती हैं वैसे कारखानों का उद्भावन देश का हित है या अहित?

देशी राजाओं में और उनकी प्रजाओं में, जमीदारों में और उनकी रैयतों में, धनवानों में और उनके ऋणग्राहियों में, स्त्रियों में

और पुरुषों में, बालकों में और उनके अभिभावकों में, मिलमालिकों में और मजदूरों में जिस प्रकार का प्रचंड विरोध राष्ट्रीय सरकार ने उत्पन्न किया है उस प्रकार के विरोध उत्पन्न करने में मुगल बादशाह तथा भेदनीति में कुशल ब्रिटिश शासक असमर्थ सिद्ध हुए थे एवं उच्चजाति की कन्यायें नीच जाति के तरुणों से, नीच जाति की कन्यायें उच्च जाति के तरुणों से प्रेमपरिचय कर हिन्दू संस्कृति को नष्ट कर रहे हैं यह कार्य भी मुगल बादशाह और ब्रिटिश शासकों से नहीं हो सका था, किन्तु हम लोगों के उपदेश और आचरण से हो रहा है यह राजगोपालाचारी का गर्व है।

मेरी राय में राजगोपालाचारी का यह गर्व निराधार है । लार्ड मेकाले का उधार है । उक्त यावत् अनर्थों के कर्त्ता चतुरचूडामणि ब्रिटिश शासक हैं इन लोगोंने प्रथम से ही यह सोच लिया है कि हिन्दू संस्कृति के विनाश में मुगल बादशाहों का बल प्रयोग निष्फल गया है हम लोगों का भी बल प्रयोग इस अंश में निष्फल ही सिद्ध होगा। हम लोगों को उस शस्त्र का प्रयोग करना आवश्यक है जिससे भारतवर्ष की संस्कृति सुगमता से अस्त व्यस्त हो जाय। बलसे बनाये गये भारतीय दास स्वेच्छा से सदाके लिये दासानुदास बन जांय । यह निश्चय कर ही बृटिश शासकों ने इस देश में अंग्रेजी द्वारा शिक्षा का प्रचार किया है। लार्ड मेकालेने अंग्रेजों को संबोधित कर यह भी कह दिया था कि इस शिक्षा के द्वारा हम लोग सहज में भारत वा-

सियों को निजी संस्कृति से च्युत कर अपनी संस्कृति का प्रेमी बना लेंगे। फिर तो बल से बनाये गये दास सदा के लिये दासानुदास बन जायंगे। इस विद्या से शिक्षित बने विद्वान् उन भारतवासियों को भी निजी संस्कृसि से च्युत कर देंगे जो किसी कारण वश अंग्रेजी पढने में असमर्थ होंगे। राजगोपालाचारी लार्ड मेकाले के उन्हीं दूतों में हैं। जिनके लिये मेकाले साहब ने आशा प्रकट की थी।

राजगोपालाचार्य का भारतीय संस्कृति विघातक प्रचार आत्मीय नहीं है यह प्रचार मेकाले साहब का है। राज गोपालाचार्य का गर्व निजी अदूरदर्शिता का परिचायक है। आप भूतावेश न्याय का स्मरण करें, भूत को उतारेन का प्रयत्न करें इसका महामन्त्र हैं "वर्णाश्रम स्वराज्य संघ।"

दानवीरों से मेरा अनुरोध है कि दाता अपने दानों से इस प्रकार की लोकोपकारी संस्थाओं का आयोजन करें जिनमें रहकर शिक्षा पानेवाले विद्वाम् भारतीय संस्कृति के पूर्ण रूप से पक्षपाती बने रहकर भांति-भांति के अपेक्षित कला कौशलों में निपुण बनें। यह कार्य देशी भाषाओं के द्वारा सुचारु रूप से हो सकता है। कलाकौशल के प्रचारक, अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद देशी भाषाओं में सुचारु रूप से हो सकता है। अनुवाद द्वारा प्रचलित शिक्षा में खर्च बहुत कम होगा। सर्वसाधारण को विदेशी भाषा सीखने का झंझट सदा के लिये मिट जायगा। एक बार किया गया

अनुवाद सदा के लिये देश का साहित्य बन जायगा । अन्य सभी देश निजी भाषाओं में ही शिक्षा प्रदान करते हैं । भारतवर्ष की प्रमाण भाषा संस्कृत है जो प्रत्येक प्रान्त में अद्यापि एक रूप से मान्य है । व्यवहार भाषा का स्थान हिन्दी को देना युक्त है । मातृ भाषाओं के एकीकरण का प्रयत्न निष्फल है योरोप में भी प्रान्त भेद से मातृभाषा का भेद है ।

इस देश में कुछ दिनोंसे ऐसी-ऐसी संस्थाओंका भी उद्‌घाटन हो रहा है, जिनमें अर्धनग्न रहकर तरुण और तरुणियां शिक्षा पातीं हैं इन संस्थाओंके द्वारा मौन रूप से दुराचार को स्थान देकर सदाचार का उपहास किया जाता है धनवानोंसे यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है कि ऐसी संस्थाओंको सहायता प्रदान कर दिव्य भारतीय संस्कृतिका शापभाजन न बनें। ऐसी-ऐसी संस्थाओंके संचालक प्रायः वे ही होते है जो भारतीय संस्कृति के रहस्य से अनभिज्ञ होते हैं या विदेशी संस्कृति के दलाल होते हैं ।

जिस श्रीयुत शेठ लच्छीरामजी चूड़ीवाले के अनुरोध से यह "मीमांसा-त्रयी" संग्रह पुस्तक का प्रकाशन किया गया है, उनका संक्षिप्त परिचय देना प्रसंगवश यहां अनुचित न होगा । आप सीकर राज्य लक्ष्मणगढ़ के प्रधान अग्रवाल रईस हैं, मुम्बई के प्रसिद्ध व्यापारी हैं। आपका स्वभाव अति दयालु है, आप स्वभावतः दानवीर हैं, आपकी दानधारा सदा प्रचलित रहती है। जो योग्य व्यक्ति आपके यहां अर्थी होकर जाता है वह संतुष्ट होकर लौटता है। धर्महीन धूर्त व्यक्तियों की

गतिविधि को आप भलीभांति पहचानते हैं। आप धर्महीन व्यक्तियों के सहायक बनकर प्रसिद्ध होना नापसंद करते हैं। आपके दान से लक्ष्मणगढ़ में ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम नामका विद्यालय जन्म पाकर प्रशंसनीय कार्य करता है इसमें मुख्य रूप से संस्कृत की शिक्षा दी जाती है, सामान्य रूप से अंग्रेजी की। इस आश्रम में १३ अध्यापक हैं। इस विद्यालय से शिक्षा पाकर अनेक छात्र शास्त्री तथा आचार्य परीक्षा में पास हुए हैं, कुछ ऐसे भी निकले हैं जो दो-दो, तीन-तीन विषयोंके आचार्य हुए हैं। सभी छात्रोंको भोजन वस्त्र आश्रम से दिये जाते हैं, शास्त्री और आचार्य के प्रत्येक खण्ड में पास प्रत्येक छात्रोंको ५१)रु. पारितोषिक और काशी जानेका मार्गव्यय दिया जाता है।

भारतीय संस्कृति के संरक्षणपूर्वक स्वराज्यप्राप्ति करने के उद्देश्य से संस्थापित "वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ" के प्रथम और प्रधान सहायक आप ही हैं। "कल्याण" पत्र के जन्म और संचालन में भी आपका विशेष सहयोग है। सावित्री विद्यालय कलकत्ता के आप प्रधान संरक्षक हैं, लक्ष्मणगढ मिडिल स्कूल के आप सर्वेसर्वा हैं। जी. टी. संस्कृत कालेज मुम्बई के छात्रोंका पाक-सदन आपहीके दानसे बना है। संस्कृत प्रचारक विद्यालय माधवबाग मुम्बई के भी आप शुभेच्छु हैं। ऐसी अनेक संस्थायें हैं; जिनमें आपका सात्विक दान विद्यामान है। आप सदाचारी विद्वान् तथा संकटापन्न सद्गृहस्थों का सदा सम्मान करते हैं। आपने श्रीयुत पं. रमापति मिश्र जी के स्वास्थ्य सुधारने के निमित्त अनेक सहस्र रुपये वैद्य तथा डाक्टरों को दिये हैं।

राउण्ड टेबुल कॉंफ्रेन्स में स्वराज्य की लिप्सा से श्रीयुत पं. मदनमोहन मालवीयजी जिस समय विलायत जा रहे थे, उस समय वहां न जाने के लिये श्रीयुत मालवीय जी से आपने अनुरोध किया था और कहा था कि—यह कान्फ्रेन्स स्वराज्य समर्पण के लिये नहीं बुलाई जाती है, इसका ध्येय यह है कि आप लोग स्वराज्य के योग्य नहीं हैं, इस बात की घोषणा भूमण्डल में कर दी जाय। अनुरोध के विफल होने पर आपने साथ में गंगाजल रखने के लिये श्री मालवीयजी को वाध्य किया था। हृषीकेश से पर्याप्त गंगाजल भेजते थे। वहां श्रीयुत मालवीय जी का स्नान तक भी गंगाजल से ही होता था।

श्रीयुत सेठजी जिस प्रकार के दाता हैं उसी प्रकार के दापयिता भी हैं। आप प्रथम श्रेणी के देशभक्त है। देश-कार्य उपस्थित होनेपर आप जिस उदारता का परिचय देते हैं, वह बड़े-बड़े धनिकों को भी आश्चर्य चकित करता है। रहन-सहन में आप अति प्राचीन हैं। आपके वस्त्र सदा स्वदेशी ही रहते हैं। आपकी ही उदारता से प्रकाशित हुई यह "मीमांसा-त्रयी" पाठकों के समीप उपस्थित की जाती है।

शुभम्

पं. सरयू उपाध्याय ज्योतिषाचार्य

आभार प्रदर्शन

इस पुस्तक के निर्माण में श्री पं. रमापति मिश्र जी से पूर्ण सहायता मिली है, इसलिये मैं आपका हृदय से आभारी हूं।

—ज्यौ. आ. पं. सरयू उपाध्याय।

॥ ॐ तत्सत् ॥

श्री गणाधिपतये नमः

विभवे सति दानेच्छा दयया यस्य जायते ॥
दातृणां प्रथमं वन्दे तम्महेशमकिञ्चनम् ॥

अनुभव से यह कहा जाता है कि प्राणीमात्रके व्यापारका फल सुखविशेष की प्राप्ति ही है। सुखी बनने की इच्छा प्राणीमात्र में पाई जाती है। सब की भावना यही रहती है कि हम सदा सुखी बने रहें, सुख की सामग्रियों का सन्निधान सदा बना रहे, अपेक्षित सुख सामग्री की चिन्ता कदापि न करनी पड़े। यह सब होने पर भी देखा जाता है कि बहुत कम लोगों को अपेक्षित सुख सामग्रियों की प्राप्ति होती है। प्रत्युत बहुत लोगों को अनपेक्षित दुःख की सामग्रियां अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

अभिलाषा के अनुकूल सुख की सामग्री तो किसी को नहीं प्राप्त होती है। जो लोग अपने को सुखी मानते हैं, वे भी सर्वथा सुखी नहीं हैं। जो यह मानता है कि मैं सर्वथा सुखी हूं, वह वस्तुतः अज्ञानी है। अपने से न्यून श्रेणी के लोगों को देख कर अज्ञानतावश उसको यह अभिमान होने लगताहै कि मैं सुखी हूं।

जिनको आंशिक सुख प्राप्त है वे अपने को दुखी मानने लगते हैं। उनका यह मानना उचित ही है, यद्यपि अपेक्षाकृत सुख

और दुःख का व्यवहार सर्वत्र प्रचलित होता है, तथापि अभिलाष की भिन्नता के कारण शक्तिविशेष के रहने पर भी दुःख विशेष का अनुभव करना पडता है। निर्धन पुत्रवान् धन का अभिलाषी, अपुत्र धनवान् पुत्र का अभिलाषी, अभिलाषित वस्तु के न मिलने से अपने को दुखी समझता है, यह समझना उचित भी है। जिसको पुत्र और धन दोनों प्राप्त हैं वह अपने को सुखी समझता है, उसको यह समझना अंशतः उचित भी है, परन्तु स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से यह भी दुःखी ही है। अभिलाषा का सीमित होना उन लोगों के लिये असंभव है जो व्यावहारिक सुख को सुख समझते हैं।

अस्तु यह सिद्धान्त तो अबाधित है कि सर्वथा सुखी या दुखी व्यक्तिका दर्शन दुर्लभ है। परन्तु यह अवश्य है कि सुख और दुख का तारतम्य प्राणियों में विद्यमान है। भावना और सामग्री का तारतम्य भी सर्वत्र पाया जाता है। इस तारतम्य का कारण क्या है, इस पर ध्यान देना विद्वानों का आवश्यक कर्तव्य है। अनेक विद्वानों का यह मत है कि उक्त तारतम्य का कारण पुरुषार्थ का तारतम्य है। पुरुषार्थ के अनुसार ही सुख की प्राप्ति होती है।

केवल पुरुषार्थ-प्रिय विद्वान् वस्तुतः विद्वान् नहीं हैं, इनको कार्यकारणभाव का रहस्य विदित नहीं रहता। जिस पुरुषार्थ से सुख की सामग्री सन्निहित होती है कभी-कभी उसी पुरुषार्थ से वह नष्ट भी हो जाया करती है। जो व्यापारी जिस व्यापार से धनवान् बनता है

वह उसी व्यापार से निर्धन भी बन जाता है। अनेक व्यापारी ऐसे हैं जो सदा व्यापार में सफलता प्राप्त करते रहते हैं। अनेक व्यापारी ऐसे भी हैं, जो व्यापार में कुशल होने पर भी अपने मनोरथ से सदा वञ्चित रहा करते हैं। पूर्वजों से अर्जित सम्पत्ति के नाश का कारण भी बनते हैं। यह उदाहरण, केवल पुरुषार्थ को जो लोग सम्पत्ति संग्रह का कारण मानते हैं उनका विरोधी है। यह भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं दम्पत्ति के स्वस्थ और समर्थ रहने पर भी संतान की प्राप्ति नहीं होती, इसके विपरीत अस्वस्थ दम्पत्तियों को अधिक संतानों की प्राप्ति होती है। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि संतानोत्पादक पुरुषार्थ में अस्वस्थ दम्पतियों की अपेक्षा स्वस्थ दम्पतियों का नम्बर पहला है। यह उदाहरण भी केवल पुरुषार्थ-वादियों का विरोधी है। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि किसी-किसी भाग्यशाली बालक के उदर में आते ही निर्धन कुटुम्ब शनैः शनैः धनवान् बनने लगता है, इसके विपरीत यह भी देखने में आता है कि अभागे बालक के उदर में आते ही धनवान् कुटुम्ब निर्धन होने लगता है, अथवा हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि गर्भस्थ बालक अपने पुरुषार्थ से धन का नाश या उसका संपादन करने में अयोग्य है। यह उदाहरण भी केवल पुरुषार्थवादियों का विरोधी है। अध्यापकों को यह मालूम है कि अनेक छात्र पुरुषार्थी होने पर भी विलम्ब से पदार्थ का ग्रहण करते हैं, शीघ्र ही उसको भूल भी जाते हैं। बहुत छात्र ऐसे भी हैं, जो अल्प पुरुषार्थ से ही

योग्य विद्वान् बन जाते हैं, आजन्म अपनी विद्या को बढाते रहते हैं। यह उदाहरण भी केवल पुरुषार्थवादियों का विरोधी है। यह भी देखा जाता है कि जिस राजा के पास अधिक युद्ध सामग्री है वह कभी-कभी हार जाता है, जिसके पास सामग्री की कमी है वह विजयी बन जाता है। यह उदाहरण भी केवल पुरुषार्थवादियों का विरोधी है। यह भी देखने में आता है कि जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ में सदा दक्ष बना रहता है वह भी कभी सुखी कभी दुखी हुआ करता है। यह भी उदाहरण केवल पुरुषार्थवादियों का विरोधी है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो केवल पुरुषार्थवाद को कुतर्क सिद्ध करने में समर्थ हैं।

वस्तुतः पुरुषार्थ भी फल विशेष है—सुख विशेष है, दुःख विशेष है, गुण विशेष है, दोष विशेष है, नितान्त परतन्त्र है। पुरुषार्थी बनने की इच्छा रहने पर भी पुरुषार्थहीन व्यक्तियों का दर्शन मिलता है। अयोग्य पुरुषार्थ से अलग रहने के लिये, जिसको शिक्षा दी जाती है वह भी अयोग्य पुरुषार्थ का अनुयायी पाया जाता है। सदाचारिता के अनुकूल पुरुषार्थ की शिक्षा देनेवाले अनेक विद्यालयों के विद्यमान रहने पर भी सदाचारियों की संख्या स्वल्परूप में पाई जाती है। दुराचारवर्धक पुरुषार्थ की शिक्षा प्रकाश रूप में नहीं दी जाती है तौ भी दुराचारी पुरुषार्थियों की संख्या अधिक रूप में पाई जाती है। इस व्यवहार से भी यह कहा जा सकता है कि पुत्र, कलत्र, धन आदि सुख सामग्रियों के समान योग्य पुरुषार्थ भी सुख की सामग्री है

और इन्हींके समान परतन्त्र है प्रारब्धाधीन है तथा एकान्त रूपसे इन्हीं के समान सुख का साधन भी नहीं है। सारांश यह है कि केवल पुरुषार्थ पर निर्भर रहना उचित नहीं, केवल पुरुषार्थ का उपदेश देना भी उचित नहीं। केवल पुरुषार्थवाद ही नास्तिकतावाद है। पुरुषार्थ करते रहना चाहिये यह मेरा कर्तव्य है, फल की प्राप्ति प्रारब्ध के अधीन है, प्रारब्ध के अनुकूल रहने पर ही पुरुषार्थ सफल होता है इस विश्वास पर दृढ रहना आस्तिकता है।

यह भी कहा जा सकता है कि प्रारब्ध के अनुकूल होने से पुरुषार्थ की स्फूर्ति स्वयं हो जाती है। यह पुरुषार्थ प्राप्य फल का सहकारी कारण बनता है। शास्त्र के उपदेश से जो धार्मिक कार्य किये जाते हैं वे भी पुरुषार्थ ही हैं। वास्तव में ये ही पुरुषार्थ हैं। इन्हीं पुरुषार्थों के द्वारा कालान्तर में अभीष्ट फल और उनके अनुकूल पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। इन पुरुषार्थ और इनसे प्राप्त होनेवाले फलों के मध्य में जो संस्कार बना रहता है उसीका नाम प्रारब्ध है। प्रारब्ध से पुरुषार्थ और पुरुषार्थ से प्रारब्ध की रचना होती है। यहां बीज वृक्ष न्याय का स्मरण आवश्यक है। भेद इतना ही है कि शास्त्र के अध्ययन-मनन और तदुक्त कर्मों के करनेसे क्रमशः प्रारब्ध उन्नत बनता जाता है।

आलसी बने रहना शास्त्र का अपमान करना है। शास्त्र पुरुषार्थ को पराधीन मानता है, इससे यह न जानना चाहिये कि

शास्त्र आलस्य का समर्थन करता है। शास्त्र का यह मत है कि आलसी बनना भाग्यहीनता की सूचना है "**शेतेभगःशयानस्य**" जो स्वयं सोता है उसका भाग्य भी सोता रहता है। इस विषय पर विशेष विचार करने से अपेक्षित निबन्ध विषयान्तर दोष से ग्रसित हो जायगा, अतः इस विचार को यहां ही स्थगित कर देते हैं।

शास्त्र का मथित अर्थ यह है कि अपनी जीवनी की पवित्रता की रक्षा के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। धार्मिक जीवन उत्तरोत्तर उन्नति का कारण बनता है। यह जीवन ही मानवता है। धर्म-हीन जीवन पशुता है। धार्मिक जीवन का अन्तिम फल यह है कि इस जीवन से अन्तःकरण शनैः शनैः पवित्र बनता जाता है। कालान्तरमे सर्वथा पवित्र हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण उस ज्ञान का भंडार बनता है, जिससे संसार-यात्रा सर्वदा के लिये निवृत्त हो जाती है।

धार्मिक जीवन का आरम्भ कैसे होता है, इस प्रश्न का उत्तर भगवती श्रुती इस प्रकार देती हैं:—**इष्टापूर्त्तं दत्तमित्युपास्ते** ।। इष्ट, आपूर्त्त और दत्त (दान) इनकी उपासना आवश्यक है। अर्थात् इन कर्मों का अनुष्ठान ही परमात्मा की उपासना है, इन कर्मों की उपासना से ही अभ्युदय और श्रेयस की (ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख की तथा मोक्ष की) प्राप्ति होती है। इष्ट शब्द का मुख्य अर्थ है— यज्ञ, इस यज्ञ के अनेक अवान्तर भेद हैं। जिनका वृहद् विवेचन शास्त्रों में किया गया है। इसके आरम्भिक भेद दो हैं—देवकार्य

और पितृकार्य। देवकार्य में होम की प्रधानता है, पितृकार्य में पिंड की। देवकार्य में स्वाहा शब्द की प्रधान है, पितृकार्य में स्वधा की। यह देवकार्य तथा पितृकार्य, शक्ति तथा अधिकार के अनुसार प्राणी मात्र के लिये आवश्यक है। इनके अनुष्ठान का आरम्भ ही धार्मिक जीवन का आरम्भ है।

आपूर्त शब्द का अर्थ है:—लोकोपयोगी संस्था, इनका निर्माण भी यथाशक्ति यथाधिकार प्राणी मात्र के लिये आवश्यक है। लोकोपयोगी संस्थाओ के नाम गोशाला, मन्दिर, जलाशय, विद्यालय, अन्न-वस्त्र, मठ, राजमार्ग, उद्यान आदि अनेक हैं। इनके निर्माण से लोकसेवा रूपी उपासना प्राप्त होती है। जो ईश्वरोपासना भी कही जा सकती है। धनवान् गृहस्थ इस उपासना के द्वारा अभ्युदयपरस्परा की प्राप्ति कर सकते हैं।

दत्त शब्द का अर्थ है:—शास्त्रोक्त योग्य पात्र को योग्य वस्तु का श्रद्धापूर्वक प्रदान। यह वैदिक दत्तशब्द दानशब्द के अर्थ में प्रयुक्त है। इसके भी अनेक भेद हैं। जिनका वर्णन इसी निबन्ध में आनेवाला है। यह दानोपासना अतिसरल है, द्रव्यहीन मनुष्य भी इसका अधिकारी हो सकता है। श्रद्धापूर्वक मुट्ठीभर अन्न के प्रदान से भी इस उपासना का अनुष्ठान हो सकता है। गरीब का मुट्ठी भर अन्नप्रदान धनवानों के महादान के समान है। इष्ट, आपूर्त्त और दत्त की उपासना जगन्नियन्ता की प्रसन्नता का कारण है। यह

वेद भगवान् की आज्ञा है। इन तीनों का नाम दान कहा जा सकता है। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि देवयज्ञ का अधिकारी वही है, जो धनवान्, विद्वान् और शरीर से स्वस्थ है। पितृ यज्ञ का अधिकारी मनुष्य मात्र है। आपूर्त्त के अधिकारी श्रद्धालु धनवान् हैं। दान के अधिकारी सभी मनुष्य हैं। श्रद्धालु होना सब के लिये आवश्यक है।

लोकोपयोगी संस्थावों के निर्माण के पूर्व इनके परिणाम के ऊपर विचार कर लेना आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि इन कार्यों का परिणाम उलटा ही बन जाता है। बनना था गणेश, तो बन जाता है वानर! विवेक की आवश्यकता तो सर्वत्र ही रहती है, परन्तु जिस कार्य में अधिक धन व्यय होता है वहां अधिक विवेक आवश्यक होता है। विवेकपूर्वक ऐसी लोकोपकारी संस्थाओं का निर्माण करना चाहिये तथा ऐसी लोकोपकारी संस्थाओं को सहायता देनी चाहिये, जिनके द्वारा निजी संस्कृति की रक्षा के साथ लोकोपकार होने की संभावना प्रमाणित हो। धार्मिक जीवन में क्षति आने का भय न हो। भ्रम से अथवा प्रलोभन से अथवा किसी के अनुरोध से ऐसी संस्थाओं का निर्माण कदापि न करना चाहिये जिनके द्वारा संस्कृति की रक्षा और धार्मिक जीवन संकट में आजाय।

यह देखा जाता है कि आजकल धनवान् लोग लोकोपकार की भावना से ऐसे-ऐसे विद्यालयों की स्थापना में प्रचुर द्रव्य व्यय

करते हैं जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति और धार्मिक जीवन संकट में आजाता है। विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो इस देश में ऐसे विद्यालयों की आवश्यकता नहीं है जिनमें विदेशी रीति से अथवा विदेशी भाषा से शिक्षा दी जाती है। ऐसे विद्यालयों से भारत वर्ष की पराधीनता सुदृढ होती है। ऐसे विद्यालयों से शिक्षित बने बालक देश की सभी प्रथाओं के निन्दक बनते हैं। अपने पूर्वजों को जङ्गली और मूर्ख कहने में संकोच नहीं करते। प्रत्युत इस कथन में आनन्द का अनुभव करते हैं। इनसे देशहित की संभावना करना आकाश कुसुम की माला से आत्मा को सुसज्जित करने की अभिलाषा के समान है। ये छात्र स्वतन्त्र रूप से जीविका संपादन करने में भी असमर्थ होते हैं। कुछ वकील और डॉक्टरों को अलग कर दिया जाय तो इनको सरकारी नौकरी के सिवाय प्रायः जीवन यात्रा के निर्वाह का और कोई साधन नहीं है। सरकारी नौकरी और सरकारी सहायता दोनों एक हैं। वकील और डाक्टरों की जीविका भी वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं है। उनपर भी सरकारी अंकुश विद्यमान है, तथा इनकी जीविका जनता के अभ्युदय पर निर्भर है; जनता की जीविका इनके अभ्युदयपर निर्भर नहीं है। इसका व्ययभार असह्य है।

देश के हित के लिये प्रत्येक कला-कौशल की शिक्षा आवश्यक है, परन्तु उसका शिक्षण होना चाहिये भारतीय भाषाओं के द्वारा। व्यापार पोष्ट, रेल्वे आदि में किसी खास भाषा की आवश्यकता नहीं है, भारतीय व्यापारी देशी भाषाओं के द्वारा करोड़ों के व्यापार

करते हैं। विदेशियों के साथ व्यापार करने के लिये अमुक व्यक्तियों को ही विदेशी भाषा का ज्ञान आवश्यक होता है। जिस तरह भारतियों के साथ व्यापार करने के लिये चन्द विदेशियों को भारतीय भाषा का ज्ञान सामान्यरूप से आवश्यक होता है। इस तुच्छ आवश्यकता से यह नहीं सिद्ध हो सकता है कि भारतीय शिक्षा की प्रधान भाषा अंग्रेजी हो सकती है।

जो लोग यह कहते हैं कि राजभाषा की आवश्यकता के सम्बन्ध में विशेष विचार अनावश्यक है, राजा के साथ सम्बन्ध राजभाषा के द्वारा ही हो सकता है उनसे यह पूछा जा सकता है कि क्या आप यह जानते हैं कि यह राजा और यह राजभाषा भारतवर्ष में यावच्चन्द्रदिवाकर वर्तमान रहेगी ? यदि यह उत्तर मिले कि नहीं ? तो पुनः उनसे पूछा जा सकता है कि राजभाषा का मोह ही क्यों ? विदेशी राजभाषा का मोह भविष्य में देश का बाधक बनता है और वर्तमान में जात्यन्तर का उत्पादक बनता है। यवन राज्यकाल में जिन लोगों ने विशेष रूप से यावनी भाषा का अध्ययन किया वे धीरे धीरे भारतीय संस्कृति के विरोधी बन गये हिन्दी होनेपर भी वे हिन्दुओं के विरोधी बन बैठे हैं और यावनी भाषा का ही अभ्यास किया करते हैं तथा उसके प्रचार के लिये प्रबल आन्दोलन भी करते रहते हैं । उनका आन्दोलन सफल भी हुआ है। देशी राज्यों में तथा ब्रिटिश राज्यों में भी अनेक स्थलों में न्यायालयों में यावनी भाषा का साम्राज्य अद्यापि विद्यमान है । कहना

यह है कि भारतवर्ष से यवन जाति का राज्य बिदा हो गया तौ भी इस देश में यावनी भाषा का राज्य विद्यमान है जो इस देश की व्यवस्था में पदे पदे बाधा उपस्थित करता है। यही अनर्थ अंग्रेजी से भी होनेवाला है।

जिन लोगों का आग्रह हैं कि राजा के साथ सम्बन्ध रखने के लिये अधिक समय तक नहीं तो जहांतक देश में उसका राज्य विद्यमान है वहां तक तो उसकी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। ऐसे लोगों सें यह प्रश्न किया जा सकता है कि विदेशी राजा के सम्बन्ध से प्रजा को अधिक लाभ होने की संभावना है? या प्रजा के सम्बन्ध से राजा को अधिक लाभ होने की संभावना है? तथा भारतवर्ष की चालीस करोड जनता को राजकीय सम्बन्ध आवश्यक है? अथवा उन इने गिने व्यक्तियों को, जो रोजगार व्यापार से हीन होने पर भी भारतवासियों के शिरमौर बनना चाहते हैं? विचारपूर्वक इस प्रश्न का यदि उत्तर दिया जाय तो वह यह है कि प्रजा के सम्बन्ध से राजा को लाभ है। चालीस करोड जनता को राजा के साथ परिचयात्मक सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। यदि यह सत्य है तो प्रजा के साथ सम्बन्ध रखने के लिये राजा को यह उचित है कि वह प्रजा की भाषा का अभ्यास करे। यह करने से राजा और प्रजा दोनों को लाभ होगा। राजा को यह लाभ होगा कि प्रजा के साथ उसका सीधा सम्बन्ध हो जायगा, प्रजा की भाषा समझने से उसके सुख दुःख का साक्षात् श्रोता बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जायगा। प्रजा को यह

लाभ हो जायगा कि वह अपने निवेदन को अल्प व्यय से राजा या राजपुरुष के समक्ष उपस्थित कर सकेगी। भाषा भेद के कारण प्रजा को देशी राजपुरुषों के जिस त्रास का अनुभव करना पडता है वह निवृत्त हो जायगा। यह तो स्पष्ट ही है कि अपठित जनता को देशी राजपुरुषों के अनर्थ से जिस त्रास का अनुभव करना पडता है वह विदेशी राजा या राजपुरुषों से नहीं। ग्रीष्म के मध्याह्न में रेती की राह से चलनेवाले पथिक को सूर्य से अनुगृहीत वालुका की उग्रता से जिस दाह का अनुभव करना पडता है वह सूर्य की किरणों के संपर्क से नहीं।

गणित शास्त्र की दृष्टि से भी भारतवर्ष में राजकीय भाषा के द्वारा जनता का शिक्षण अनुचित है। चालीस करोड़ जनसमुदाय अति अल्पसंख्यक राजपुरुषों की सुविधा के लियें विदेशी भाषा सीखने के निमित्त बाधित किये जाँय यह गणित शास्त्र को सम्मत नहीं है। यह व्यवहार राजा की उदारता को भी कलङ्कित बनाता है। इतिहास के ज्ञाता राजपुरुष यह जानते हैं कि अनेक उपायों के अवलम्बन करनेपर भी किसी भी जाति का शासन सदा के लिये किसी अन्य देश के ऊपर स्थिर नहीं रहता। विदेशी राजाओं को यह उचित है कि पुष्प-भ्रमर न्याय से विजातीय देश का शासन करें। पुष्प को सुरक्षित रखकर ही भ्रमर उसके गन्ध का स्वाद लेता है। राजाओं का भी यह धर्म है कि भाग्यवश अनिश्चित काल के लिये विदेशोंपर प्राप्त अधिकार का उपयोग इस प्रकार करें कि देश की

सभ्यता को सुरक्षित बनाये रखकर ही उससे उचित लाभ उठावें, सब प्रकार से देश को हस्तगत कर जाने की अभिलाषा राजधर्म से कोसों दूर है।

जिन लोगों को यह भय हो रहा है कि विदेशी भाषा के बिना कला-कौशल की शिक्षा इस देश में नहीं दी जा सकती, उनको यह जान लेना आवश्यक है कि यह मेरा भय, भय नहीं हैं केवल भ्रम है। सभी शिक्षायें सभी भाषाओं के द्वारा दी जा सकती हैं। देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा के प्रचार करने में व्यय कम होता है शिक्षा को व्यापकता तथा स्थायित्व प्राप्त होता है। देशी भाषा के साहित्य में जिन आधुनिक कलाओं का अभाव है उनके शिक्षक:– विदेशी भाषा के ग्रन्थों का तथा उनकी रीति का सुचारु रूप से अनुवाद हो सकता है। पर्याय शब्दों के न मिलने पर विदेशी भाषा के ही शब्द अनुवाद में रखे जा सकते हैं। लालटेन, लेटर आदि शब्दों के समान स्वल्प काल में ही कतिपय विदेशी शब्द स्वदेशी शब्दों के साथ सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। एक बार का किया गया अनुवाद सदा के लिये देश का साहित्य बनाया जा सकता है। जापान ने योरोप में या अमेरिका में किये गये आधुनिक आविष्कारों का प्रचार जापानी भाषा में ही किया है। विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखने के लिये जैसे सामान्यरूप से अन्य देशों को अपने से भिन्न देशों की भाषामात्र का ज्ञान अपेक्षित होता है वैसे ही भारत-वर्ष के कतिपय व्यक्तियों को भी विदेशी भाषामात्र का ज्ञान आव-

श्यक होगा, इस ज्ञान के लिये बड़े बडे विदेशी भाषा के विद्यालय प्रचुर मात्रा में अपेक्षित नहीं होंगे। न्यायालयों का कार्य अंग्रेजी के बिना सुचार रूप से न हो सकेगा यह भी किसी-किसी का भ्रम ही तो है। अन्य सब देश अपनी-अपनी भाषा में ही इस कार्य को करते हैं, भारत वर्ष भी इस कार्य को अपनी भाषा में कर सकता है, इस कार्य में संस्कृत के निबन्ध सर्व श्रेष्ठ हैं, उनकी तर्क शैली अजोड है। आचार महान् धन है इसकी शिक्षा का प्रचार महादान है।

कृष्ण यजुर्वेद के तैतरीय उपनिषद् में दिया गया उपदेश यहां उद्धृत किया जाता है इससे आचार और दान धर्म की आवश्यकता प्रतीत होगी।

सत्यंवद धर्मंचर स्वाध्यायान्मा प्रमदः आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य-प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः

अर्थात् सत्यबोलो, जैसा जानो वैसा ही कहो, धर्म का पालन करो (कर्त्तव्य धर्मों का ज्ञान शास्त्रीय विधिवाक्यों से प्राप्त होता है) स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। प्रतिदिन वेद शास्त्र इतिहास तथा पुराणों का यथावकाश अवलोकन करो। आचार्य को यथाशक्ति धन देकर संतान परम्परा की रक्षा करो गृहस्थ बनकर रहो।

सत्यान्न प्रमदितव्यम् धर्मान्न प्रमदितव्यम् कुशलान्न प्रमदितव्यम् भूत्यै न प्रमदितव्यम् स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

अर्थात् सत्य से प्रमाद मत करो, प्रमाद से भी मिथ्या न बोलो; धर्म से प्रमाद न करो प्रमाद से भी अधर्म न करो या धर्म का त्याग न करो; अपने कल्याण से प्रमाद न करो, प्रमाद से भी अभ्युदय विरोधी कार्य न करो; ऐश्वर्य से प्रमाद न करो, प्रमाद से भी ऐश्वर्य का विरोध न करो; पठन-पाठन में प्रमाद न करो, प्रमाद से भी पठन-पाठन का त्याग न करो।

देव पितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवोभव पितृदेवोभव, आचार्यदेवोभव, अतिथिदेवोभव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानिसेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानित्वयोपास्यानि नो इतराणि,

अर्थात् देव कार्य से प्रमाद न करो, प्रमादसे भी देव कार्य का (यज्ञादिक) तथा पितृ कार्य (श्राद्धतर्पणादि) का त्याग न करो; माता के भक्त बनो, पिता के भक्त बनो, आचार्य के भक्त बनो, उनकी आज्ञा को देवताओं की आज्ञा मानो। अनियमित रूप से आये अतिथियों का अन्नजल से सत्कार करो, इनको आगत देवता समझो। निर्दोष कर्मों का सेवन करो, सदोष कर्मों का त्याग करो, गुरुओं के निर्दोष आचरणों का अनुकरण करो, सदोष आचरणों का अनुकरण न करो।

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्, श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयाऽदेयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्।

अर्थात् जो हमारे तपस्वी सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण हैं उनका आसन भोजन आदि से सत्कार करो, श्रद्धापूर्वक दान दो, श्रद्धा से रहित होकर दान न करो, ऐश्वर्य के अनुसार दान दो, लज्जा से भी दान दो, न दान देने से लोक में लजाना पड़ेगा इस बुद्धि से भी दान दो, भय से दान दो, न दान देने से पाप का भय है इस बुद्धि से भी दान दो, ज्ञान से दान दो, धन अनित्य है दान का फल चिर-स्थायी है इस बुद्धि से दान दो।

अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः॥

अर्थात् कदाचित् तुमको किसी कर्म के कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में अथवा किसी आचरण के सम्बन्ध में संदेह हो तो तुम्हारे निकट विचारशील, स्वभाव से स्वतन्त्र, दोषरहित, स्वभाव से शान्त, धर्मात्मा ब्राह्मण जो मिलें वे जिस प्रकार कर्म करते हों तथा जिस प्रकार के आचार का पालन करते हों तुम भी वैसाही कर्म करो और उसी रूप में आचरण का पालन करो। सारांश यह है कि जो शास्त्र नहीं जानता जिसका आचार दूषित है स्वभाव आग्रही है उससे संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती।

अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः॥

अर्थात् यदि किसी कर्म या आचार के सम्बन्ध में तुमको यह संदेह हो कि यह त्याज्य है ? या अत्याज्य, तो तुम्हारे निकट विचारशील, स्वभाव से स्वतन्त्र, दोषरहित, स्वभाव से शान्त, धर्मात्मा ब्राह्मण जो मिलें वे इस सम्बन्ध में जैसा वर्ताव करते हों वैसा करो।

सारांश यह कि त्याज्यात्याज्य का ज्ञान या निर्णय मनमाने रूप से नहीं करना चाहिये। इसी वैदिक आशय को लेकर महाभारत कारने लिखा है "**धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतःस पंथा।**" धर्म का रहस्य गूढ है भूतपूर्व महापुरुषों का आचरण ही उसका मार्गदर्शक है।

एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषद्, एतदनुशासनम्, एवमुपासितव्यम्, एवमु चैतदुपास्यम् ॥

अर्थात् तुम्हारे लिये यही आज्ञा है यही उपदेश है यही वेदोपनिषद् है, वेद का रहस्य है, यही शिक्षण है, सावधानी से इस उपदेश का पालन करो, इन का पालन ही परमात्मा की प्राप्ति का उपायभूत उपासना है।

वाचक वृन्द को यह ज्ञात हुआ होगा कि वेद भगवान का यह उपदेश है कि जो व्यक्ति ऐहलौकिक या पारलौकिक कल्याण की इच्छा करता है उसको आवश्यक देवयज्ञ पितृयज्ञ माता पिता और आचार्य की सेवा योग्य विद्वान् ब्राह्मण का प्रतिपालन तथा स्वाध्याय का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये, इन्हीं का नाम उपासना है, इसी उपासना के द्वारा उपास्य परमात्मा की प्राप्ति होती है।

दान के दो प्रकार बतलाये गये हैं:—लोकोपकारी संस्था का निर्माण तथा योग्य व्यक्ति का सम्मान। लोकोपकारी संस्थाओं के निर्माण द्वारा अनिश्चित व्यक्तियों को लाभ पहुँचाया जाता है, श्रद्धा-पूर्वक यथाशक्ति योग्य व्यक्तियों के सम्मान-द्वारा सिद्धान्त और सभ्यता की रक्षा की जाती है। सभ्यता की रक्षा से समाज व्यवस्थित और सुखी बना रहता है। सभ्यता के परित्याग से समाज में क्षोभ फैल जाता है। वर्तमान काल में भारतवर्ष को सभ्यता के परित्याग का कुत्सित परिणाम अनुभवगोचर हो रहा है।

धर्म शास्त्रकारोंने सत्पात्र दान के महत्व का स्वीकार मुक्त कण्ठ से किया है:—

गोभूतिलँहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम्
नापात्रे विदुषा किञ्चिदात्मनः श्रेय इच्छता

जिस व्यक्ति को कल्याणपरम्परा की रक्षा की इच्छा है उसका यह कर्तव्य है कि श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति गौ, भूमि, तिल और सुवर्ण आदि पदार्थों का दान सत्पात्र व्यक्ति को दे, किसी दशा में भी कुपात्र को दान न दे। इस आशय के अनेक बचन मनुस्मृति के तीसरें अध्याय में पाये जाते हैं।

वाचक वृन्द को यह अभिलाषा उत्पन्न होती होगी कि पात्र किसको कहा जाय और पात्र का लक्षण क्या है अतः यहां

सत्पात्र के लक्षणकी निरुक्ति आवश्यक है। याज्ञवल्क्य स्मृति में सत्पात्र का लक्षण इस प्रकार किया गया है:—

न विद्यया केवलया तपसा वा पि पात्रता ॥
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥आ. २००

सत्पात्र वह कहा जाता है—जो विद्वान् है, तपस्वी है तथा सदाचारी है। जिसके आचरण निर्दोष नहीं है वह विद्वान् तथा तपस्वी होने पर भी सत्पात्र नहीं है। वाचक विचार करें कि जो योग्य विद्वान् भी नहीं है तथा तपस्वी भी नहीं है तथा चरित्रवान् भी नहीं है वह सत्पात्र किस तरह कहा जा सकता है। क्या केवल सत्पात्रों के नेपथ्य धारण से हीं ?

भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने भी दान की आवश्यकता के साथ-साथ सत्पात्र की आवश्यकता का समर्थन किया है:—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥

(भ. गी. १७ अ. २० श्लो.)

भगवान् आज्ञा करते हैं कि सात्विक दान वह है जो सत्पात्र को दिया जाता है, योग्यदेश में दिया जाता है, योग्यकाल में दिया जाता है। भगवान् की आज्ञा का सारांश यह है कि योग्य देश—काशी आदि तीर्थ स्थान तथा योग्यकाल—ग्रहणादि पर्व में भी जो दान दिये जाँय वे भी सुपात्र को ही दिये जांय। पात्र का लक्षण ऊपर दिया गया है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने मुक्तकण्ठ से यज्ञ दान और तपस्या की आवश्यकता का स्वीकार किया है:—

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
(भ. गी. १८ अ. ५)

देवकार्य, पितृकार्य, सामान्य दान, विशेष दान आदि कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है । इसी प्रकार व्रतादि का पालन भी आवश्यक है । किसी दशा में भी इनका त्याग नहीं हो सकता । विद्वानों को इन्हीं कर्मों के अनुष्ठानों से पवित्रता प्राप्त होती है । सारांश यह है कि बुद्धिमान् होने पर यह गर्व न करना चाहिये कि केवल बुद्धिमत्ता से ही मेरा कल्याण हो जायगा । विद्वान् होने पर भी अन्तःकरण की शुद्धि के लिये इन कर्मों की आवश्यकता है । जो नहीं विद्वान् हैं उनको तो सुतरां इनकी आवश्यकता है—यह स्वयं ज्ञात हो सकता है ।

व्यास भगवान् ने संक्षेप में यह कहा है कि मेरे अठारहों पुराणों का मथित अर्थ यह है कि परोपकार पुण्य है, पर पीडन पाप है:—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन–द्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अठारहों पुराणों में व्यास के (मेरे) सिद्धान्त भूत ये दो वाक्य हैं परोपकार पुण्य के लिये है और परपीडन पाप के लिये है ।

देवल नामक धर्मशास्त्र के आचार्य ने दान के ६ अंग बताये

हैं, इनका आशय यह है कि इन छवों अंगों के संयोग से दान-धर्म को सर्वांगता प्राप्त होती है।

दाता प्रतिगृहीता च श्रद्धा देयं च धर्मयुक्।
देशकालौ च दानानामङ्गान्येतानि षड् विदुः ॥

योग्य दाता, योग्य आदाता, शुद्ध श्रद्धा, न्याय प्राप्त द्रव्य, शास्त्रोक्त देश, शास्त्रोक्त काल ये छ दान के अंग हैं। इन छहों अंगों के संकलन से दान अंगी बनता है। इसी देवलाचार्य ने कहा है कि:--

अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धयाप्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते ॥

प्रारब्ध के योग से संपत्ति के प्राप्त हो जाने पर श्रद्धापूर्वक योग्य पात्र को जो अन्न धन आदि दिये जाते हैं उसी त्याग क्रिया का नाम दान है। इस दान की व्याख्या आगे की जायगी। इस आचार्य का यह आशय मालूम होता है कि प्रारब्ध योग से जिसी समय सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाय उस समय को भी दान का काल जानना चाहिये।

दाताओं को यह उपदेश ध्यान में रखने लायक है कि:—

गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्त–फलं स्मृतम्।
सहस्र–गुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम् ॥

योग्य पात्र के पास जाकर जो दान दिया जाता है उसका फल अत्यधिक है। योग्यपात्र को अपने यहां बुलाकर जो दान दिया

जाता है उसका फल पूर्वापेक्षया कुछ कम है। याचना करने पर योग्य पात्र को जो दान दिया जाता है उसका फल तदपेक्षया भी कम है। दाताओं को यह जानना भी आवश्यक है कि:—

सन्निकृष्ट–मधीयानं ब्राह्मणं यो व्यतिक्रमेत्
भोजने चैव दाने च दहत्यासप्तमं कुलम् ॥

(शातातप और पराशर)

योग्य विद्वान् दान पात्र ब्राह्मण के निकट में रहने पर भी उसको छोडकर जो दाता किसी अन्य दूरस्थ योग्य ब्राह्मण का भोजन या दान में अन्वेषण करता है वह अपराधी बनता है। अतः दाताओं को उचित है कि भोजन तथा दान के प्रसंग में निकटवर्ती परिचित ब्राह्मण का अपमान न करें। ऐसा करना अपने सात पुरुषों के सुख का विघात करना है।

यह अवश्य है कि निकट में योग्य विद्वान् ब्राह्मण न मिलें तो दूर से भी योग्य विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाकर उनका दान मान से सम्मान करना चाहिये। ऐसा करने से किसी धर्मात्मा को यह कहने का अधिकार नहीं होगा कि निकटवर्ती अपठित ब्राह्मण का अपमान किया गया है:—

यस्य चैको गृहे मूर्खो दूरे चैव वहुश्रुतः।
वहुश्रुताय दातव्यं नास्ति मूर्खे व्यतिक्रमः॥

जिसके पास रहने वाला ब्राह्मण अपठित है, पठित ब्राह्मण जिससे दूर है, उसको तो यह उचित है कि दूरस्थ विद्वान् का ही सम्मान करे। ऐसा करने से समीपवर्ती अपठित ब्राह्मण का अपमान नहीं होता। सारांश यह है कि दूरस्थ होने पर भी बहुश्रुत ब्राह्मण सम्मान के लायक है, योग्य समय की उपस्थिति होने पर सम्मान पूर्वक उसको बुलाना चाहिये।

दाताओं को यह जानना आवश्यक है—सुवर्ण, रजत आदि द्रव्यों का दान गृहस्थ ब्राह्मण को ही देना चाहिये। त्यागियों को इनका दान शास्त्रों में वर्जित है। इस सिद्धान्त के समर्थक वचन सभी धर्मशास्त्रों में पाये जाते हैं। यहां केवल यमका एक वचन उद्धृत किया जाता है।

सुवर्णं रजतं ताम्रं यतिभ्यो यः प्रयच्छति।
न तत्फलमवाप्नोति तत्रैव परिवर्तते॥

सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि का दान जो त्यागियों को दिया जाता है उसका फल दाता को कुछ भी नहीं मिलता। यह दान वहां ही रह जाता है। अर्थात्—"स्वामीजी ने लिया भक्तजीने दिया" यह व्यवहार ही इस दान का फल होता है। त्यागी व्यक्तियों को अन्न-वस्त्र का दान ही शास्त्र-सम्मत है। आजकल त्यागी लोग मठ, मन्दिर, विद्यालय, विधवा-श्रम, बालाश्रम, जलाशय आदि के लिये धन संग्रह करते हैं। यह व्यवहार इनके लिये अति गर्हित है। ऐसे-ऐसे आपूर्तों की आवश्यकता मालूम होने पर इनका यह कर्त्तव्य है कि इनके निर्माण के लिये ये गृहस्थों को केवल उपदेश दें।

कहीं-कहीं तो ऐसा लेख पाया जाता है कि यतियों को दान देने से नरक की प्राप्ति होती है।

यतिभ्यः काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
तस्करेभ्योऽभयं दद्यात् स राजा नरकं व्रजेत्॥

जो राजा यतियों को सुवर्ण देगा, ब्रह्मचारियों को ताम्बूल (व्यसन की सामग्री) देगा तथा चोरों को अभय देगा वह दाता राजा नरक में जायगा। यह उपदेश विचार का अनुवाद है। जो सन्यासी है उसको द्रव्य की आवश्यकता ही क्यों? जो ब्रह्मचारी है उसको ताम्बूल आदि व्यसन की सामग्रियों की आवश्यकता ही क्यों? जो जनता को भय देने वाला तस्कर है उसको अभय प्रदान करना ही क्यों?

पंगु, अन्ध, बधिर, मूक आदि असमर्थ व्यक्तियों का तथा व्याधि-पीडित व्यक्तियों का पालन आवश्यक है परन्तु ये प्रतिग्रह लेने के अधिकारी नहीं हैं:—

पङ्ग्वंध बधिरा मूका व्याधिनोपहताश्च ये।
भर्तव्यास्ते महाराज न तु देयः प्रतिग्रहः॥

राजन्! आपका यह कर्तव्य है कि पंगु, अंध, बधिर, मूक और व्याधिपीडित मनुष्यों के भरण-पोषण का प्रबन्ध आप करें; परन्तु इनको प्रतिग्रह न दिया जाय। (महाभारत)

मनुभगवान् की भी आज्ञा है कि:—

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नः ॥
(म. अ. ९ श्लो० ३३३)

न्यायोपार्जित धन के बढ़ जाने पर धनवानों का यह कर्तव्य है कि अपने धन से उत्तम-उत्तम कार्य करें तथा प्राणी मात्र को अन्न देने का प्रयत्न करें। उत्तम कार्य का अर्थ है लोकोपयोगी धार्मिक संस्थाओं का निर्माण ।

विद्वान् ब्राह्मणों की रक्षा से ज्ञानतत्व की रक्षा होती है। इसी कारण ज्ञानरूपी भगवान ने कहा है कि ज्ञानी ब्राह्मणों का सत्कार ही मेरा सत्कार है, इनका तिरस्कार ही मेरा तिरस्कार है:—

ब्राह्मणैः पूजितैर्नित्यं पूजितोऽहं न संशयः ।
निर्भर्त्सितैश्च निर्भर्त्स्ये तैरहं सर्वकर्मसु ॥
विप्राऽपरागतिर्मह्यं यस्तान् पूजयते नृप ।
तमहं स्वेन रूपेण प्रशस्यामि युधिष्ठिर ॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

भगवान् युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! धर्म कर्मों में ब्राह्मण पूजित होते हैं उससे यह जानो कि मैं ही पूजित होता हूं। यदि किसी धर्म कार्य में ये तिरस्कृत होते हैं तो जानो कि मैं ही तिरस्कृत होता हूं ॥ ब्राह्मणों को मैं अपना आश्रय मानता हूं। जो

इनकी पूजा करता है उसकी प्रशंसा मैं अपने रूप से करता हूं। अर्थात् मैं उसको अपना स्वरूप मानता हूं।

इसी प्रकरण में भगवान ने यह भी कहा है कि कुल-पूज्य ब्राह्मण, अध्यापक, वैदिक-यज्ञकरानेवाले, स्मार्त-कर्म करानेवाले ब्राह्मणों का सत्कार जिस तरह उत्तम कार्य है उसी तरह माता और पिता का सत्कार भी उत्तम कार्य है। इनके सत्कार के सम्बन्ध में जातीयता का विचार न किया जाय। सब जातियों को यह उचित है कि विद्वान् तपस्वी, सदाचारी ब्राह्मणों के समान ही अपनी माता और पिता का सत्कार करें।

वर्णापेक्षा न कर्तव्या मातरं पितरं प्रति ॥

अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज यह न समझें कि मेरी माता तथा पिता ब्राह्मण नहीं हैं इस कारण ब्राह्मणों के समान पूज्य नहीं हैं। प्राणी मात्र को माता और पिता का सत्कार अत्यावश्यक है।

शास्त्रकारों का मत है कि:--

पुरोहिते तु स्वे दत्तं दानमक्षय्य मुच्यते।
उपाध्यायर्त्विजोश्चैव गुरावपि च मानवैः ॥

योग्य कुलपुरोहित (स्मार्त कर्म करानेवाला) उपाध्याय (अध्यापक) ऋत्विक् (वैदिक कर्म करानेवाला) गुरु (उपनयन पूर्वक विद्या पढानेवाला) ब्राह्मण को दिया गया दान अक्षय माना जाता है।

इस दान के प्रसंग में भी पात्रापात्र का विचार आवश्यक है कुपात्र को दान देना मना है:—

नवार्यपि प्रयच्छेत नास्तिके हैतुकेऽपि वा ।
न पाखण्डिषु सर्वेषु नावेदविदि धर्मवित् ।। (यम)

जो ब्राह्मण नास्तिक है:—श्रौतस्मार्त कर्म, उनके फल, पुनर्जन्म तथा ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता है; श्रुतिस्मृति, पुराण, इतिहास और सदाचार के प्रमाण होने में आशंका करता है तथा जो मनमाने तर्क-वितर्क से अधर्म का प्रचार करता है तथा जो भांति-भांति के पाखंड को फैलाता है तथा जो सावित्री मात्र वेद को भी नहीं जानता है उसको पानी तक नहीं देना चाहिये । अन्न-वस्त्र की तों बात ही दूर है । यह वाक्य निन्दात्मक अर्थवाद है। इसका यह अर्थ है कि ऐसे-ऐसे ब्राह्मणों को पात्र नहीं समझना चाहिये । इनके पालन-पोषण से शास्त्रीय मर्यादा का नाश होता है, समाज में वैमत्य फैलता है; जिससे समाज की शृंखला टूट जाती है ।

मनुस्मृति में तो अपठित ब्राह्मण जड के समान माने गये हैं ।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा तृणमयः पुमान् ।

अपठित ब्राह्मण काठ के हाथी अथवा तृण के पुरुष के समान है । यहां यह जान लेंना आवश्यक है कि इस प्रकार के ब्राह्मणों को संमान की दृष्टि से कुछ नहीं देना चाहिये ।

दया की दृष्टि से अन्न मात्र दे देने में पात्रापात्र का विचार अनावश्यक है:—

अन्नदाने न कर्तव्यं पात्रापेक्षणमण्वपि।
अन्नं सर्वत्र दातव्यं धर्मकामेण वै द्विज॥
स दोषे पि तु निर्दोषमगुणा पि गुणावहम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन देयमन्नं सदैव तु॥
विद्याध्ययनसक्तानामन्नदानं महाफलम्।

इस प्रशंसात्मक अर्थवाद का तात्पर्य यह है कि भोजन मात्र का दान पात्रापात्र के विचार के विना ही सदोष निर्दोष सब ही प्राणियों को दे दिया जाय। भूखे को खिला देना दोष प्रद नहीं है इससे भी कुछ फल ही मिलता है। गुणवान् और विद्यार्थियों को अन्न देने से महाफल की प्राप्ति होती है।

विद्यार्थियों को अन्न वस्त्र पुस्तक का दान सब दानों में श्रेष्ठ दान है:—

कुक्षौ तिष्ठति यस्यान्नं विद्याभ्यासेन जीर्यते।
तदन्नं तारयेत्तस्य दशपूर्वान् दशापरान्॥

विद्यार्थी के उदर में जो अन्न रहता है जिसका पाचन अध्ययन करते-करते होता है वह अन्न, अन्नदाता के दश पूर्व तथा दश पर पीढ़ी के पुरुषों को अनुकूल फल देता है। यहां यह जान लेना उचित है कि विद्यार्थी शब्द से विधर्मी विद्या के अध्ययन करनेवालों

का ग्रहण नहीं किया गया है। यहां उन विद्यार्थियों का ग्रहण अभीष्ट है जो स्वधर्मपोषक विद्याओं के अध्ययन में तल्लीन हैं।

यदि दान देने से कुटुम्ब क्लेश की सम्भावना मालूम होती हो अथवा पश्चात्ताप का अवसर प्राप्त होगा यह मालूम हो तो दान देने से न देना ही अच्छा है।

कुटुम्बभक्तवसनाद् देयं यदतिरिच्यते
मध्वास्वादो विषं पश्चाद् दातुर्धर्मोन्यथा भवेत् ॥

(बृहस्पति)

सामान्य रूपसे भोजन वस्त्र के द्वारा कुटुम्ब के भरण-पोषण हो जाने पर यदि धनकी बचत होती हो तो दान देना उचित है। ऐसा न होने पर भी जो दान दिया जाता है वह पहले प्रशंसा का कारण बनता है पीछे पश्चात्ताप का कारण बनता है। सारांश यह है कि उत्साह में आकर अपनी शक्ति को न देख कर जो धर्म किया जाता है वह पश्चात्ताप का कारण बनता है। पश्चात्ताप के होने से उसका फल भी नहीं मिलता।

मन्त्र से संकल्प पूर्वक जो दान दिया जाता है उसमें पात्रापात्र का विचार अत्यावश्यक है:—

मन्त्रपूर्वं च यद्दानमपात्राय प्रदीयते ।
दातुर्निश्छिद्य हस्तं तद्भोक्तुर्जिह्वा निकृन्तति ॥

विधिपूर्वक दिया गया दान यदि अपात्र के यहां चला जाता

है तो वह देने वाला और लेनेवाला दोनों को अनिष्ट कारक होता हैं। यह भी वचन महादान के सम्बन्ध में है।

अतिथि के रूपमें योग्य व्यक्तियों के उपस्थित हो जाने पर तो कुटुम्त्रियों को कुछ कष्ट देकर भी आगत अतिथियों का अन्न-जल से सत्कार करना चाहिये:—

कुटुम्बं पीडयित्वा तु ब्राह्मणाय महात्मने।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनोभूतिमिच्छता॥

भोजन के समय भिक्षुक के रूपमें (अतिथि के रूप में) उपस्थित योंग्य ब्राह्मण को कुटुम्ब के भोजन में कमी करके भी अन्न देना चाहिये। यह अन्नदान महादान के समान है।

अतिथियों को निराश करना गृहस्थ धर्म के अति प्रतिकूल है।

अतिथिर्यस्य भग्नाशोगृहात्प्रतिनिवर्तते।
स्वकीयं दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादायगच्छति॥

जिस गृहस्थ के घर से निराश होकर अतिथि लौट जाता है उस घरका संपादित पुण्य अतिथि के साथ चला जाता है। अतिथि का दारिद्रय प्रद पाप गृहस्थके घर स्थिर हो जाताहै। तात्पर्य यह कि जिस पुण्य के प्रभाव से गृहस्थ का घर अन्नजल से परिपूर्ण रहता है वह अतिथि को निराश करने से धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है।

जिस गृहस्थ के घर अतिथि के सत्कार योग्य अन्न न हो उस

गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि प्रेम के साथ अतिथि को आसन आदि प्रदान करे। हो सके तो किसी अन्य गृहस्थ से भोजन का प्रबन्ध करा दे:—

तृष्णानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता।
एतान्यपि सतांगेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

आसन, रहने का स्थान, जल और सुनृत वाणी का अभाव सज्जन के यहां नहीं रहता। इनसे भी अतिथि का सत्कार करना चाहिये। अतिथि सत्कार गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ आवश्यक धर्म है। इस विषय का समर्थक महाभारत का सुवर्ण नकुलोपाख्यान प्रसिद्ध है।

शास्त्रकारों का यह मत है कि श्रद्धा के उदय होनेपर शक्ति के अनुसार तुरत दान कर देना चाहिये अर्थात् दान के रूप में प्रतिज्ञात द्रव्य को तुरत अलग कर देना चाहिये। केवल बचन मात्र से यह न कहना चाहिये कि मैं इतना दूंगा, यह वाचनिक प्रतिज्ञा कभी-कभी भय का कारण बन जाती है। प्रतिज्ञात धन ऋण का स्वरूप ग्रहण कर लेता है:—

प्रतिश्रुत्याप्रदानेन दत्तस्य छेदनेन च।
विविधान् नरकान् याति तिर्यग्योनौ च जायते॥
वाचा यच्च प्रतिज्ञातं कर्मणा नो पपादितम्।
तद्धनमृणसंयुक्तमिह लोके परत्रच॥

प्रतिज्ञात धन यदि न दिया जाय अथवा कम दिया जाय

तो प्रतिज्ञाता नरकगामी बनता है; नरक से अवकाश पानेपर उसका जन्म तिर्यक् योनी में होता है। वचन से प्रतिज्ञात धन यदि दे दिया नहीं जाता तो वह 'प्रतिज्ञात' धन ऋण के समान बन जाता है।

जिन धनवानों को कदाचित् यह जिज्ञासा हो कि कम से कम धन के कितने अंश अवश्य देय है तो उनको इस महाभारत के वचन का अनुसरण करना चाहिये—

एकां गां दशगुर्दद्याद् दश दद्याच्च गोशती।
शतं सहस्रगुर्दद्यात् सहस्रं वहुगोधनः॥

जिसके पास दश गौ हों वह एक गाय का, जिसके पास सौ हों वह दश गायों का, जिसके पास हजार गायें हों वह सौ गायोंका जिसके पास अनेक हों वह हजार गायों का दान करे। इस वचन का भावार्थ यह है कि आय के अनुपात से दशवां हिस्सा का दान आवश्यक है। यह उपदेश बड़े-बड़े धनियों के बड़े-बड़े दानों के लिये दिया गया है।

व्यास स्मृति में यह कहा है कि एक ग्रास भोजन में भी आधे ग्रास का दान कर देना चाहिये—

ग्रासादर्धमपिग्रासमर्थिभ्यः किन्न दीयते।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति॥

भोजन के एक ग्रास में से भी आधा ग्रास याचकों को क्यों न दे दिया जाय? इच्छा के अनुरूप ऐश्वर्य कब किसको प्राप्त होने

वाला है ? व्यासजी के इस उपदेश के दो भाग किये जा सकते हैं। पहले भाग से व्यासजीने दान की आवश्यकता बताई है, आपका कहना यह है कि दरिद्र से दरिद्र को भी शक्ति के अनुसार कुछ न कुछ प्रतिदिन दान देना चाहिये। इस आज्ञा का पालन सभ्य हिन्दुओं के घरों में अद्यापि किया जाता है। गरीब से गरीब सभ्य-गृहस्थ भोजन की सामग्री में से कुछ भाग दान के निमित्त से अलग-कर देता है। उत्तर हिन्दुस्थान में इस त्यक्त अंश को विसुन चिटुकी कहते हैं। किसी-किसी देश में इस अंश का पंचधान्य नाम है। श्लोक के दूसरे भाग का यह तात्पर्य है कि प्रारब्धानुसार धन के प्राप्त हो जानेपर तुरत दान के द्वारा उसका उपयोग कर लेना चाहिये। इस विचार में पड़कर कालक्षेप न करना चाहिये कि अधिक धन की वृद्धि होनेपर दान की व्यवस्था की जायगी। धार्मिक भाव के उदय हो जानेपर शीघ्रता ही आवश्यक हैं।

" श्वः कार्यमद्यकुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाकृतम्॥

जो धर्म-कार्य कल करने का विचार हो वह आज ही कर दिया जाय। अपराह्ण में करने को हो तो पूर्वाह्ण में ही कर दिया जाय। मृत्यु इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि इसने अपना कर्तव्य कर लिया है या नहीं।

मनुभगवान ने यह उपदेश दिया है कि विधिपूर्वक जो दान दिया जाता है उसके लेने का अधिकारी गृहस्थ ब्राह्मण है:—

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥
(अ० १० श्लो० ६)

यथा शक्ति धन का दान, विद्वान् गृहस्थ अनासक्त ब्राह्मणों को ही देना चाहिये ।

अनेक गृहस्थ ऐसे हैं जो अति उदार होने के कारण अथवा जनता में अपनी मर्यादा को बढाने के लिये शक्ति से अधिक दान करते हैं, घर के प्राणियों के क्लेश के ऊपर तथा अपनी शक्ति के ऊपर ध्यान नहीं देते । यह व्यवहार मनुभगवान् को पसन्द नहीं है—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःख जीविनि ।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ११६

घरके प्राणियों के दुःखमय जीवन रहने पर भी जो पराये को दान दिया जाता है, वह ऊपर से मधु है; भीतर से विष । धर्म नहीं है धर्म का अनुकरण है । इस वचन का आशय यह है कि विशिष्ट दान शक्ति सापेक्ष है । अन्न-जलादि का सामान्य दान शक्ति के संकोच से भी हो सकता है ।

गृहस्थों के नित्य कर्मों में भी दान का नाम आया है दान गृहस्थ का नित्य कर्म है—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः श्राद्धतर्पणे ।
दानं चैव गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

देवताओं की आराधना, गुरुजनों की सेवा, धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय, पितरों का श्राद्ध, उनका तर्पण और दान ये ६ कर्म गृहस्थों के दैनिक हैं।

शतेषु जायते शूरः सहस्त्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दशसहस्त्रेषु दाता भवति वा न वा॥

सैकड़ोंमें एक वीर होता है; हजारोंमें विद्वान्, लाखोंमें वक्ता; परन्तु लाखोंमें भी दाताका होना संदिग्ध हैं। सारांश यह है कि बलवान्, विद्वान् और वक्ताकी अपेक्षा दाताका महत्व अधिक है। वास्तवमें धनके अनुरूप त्याग करनेवालोंकी संख्या बहुत कम सुनी जाती है, महाभारत कालमें जहां वीरोंकी संख्या प्रभूतरूपमें गिनाई गई है; वहां दाताके रूपमें केवल कर्ण ही का नाम लिया गया है। बम्बई नगरीमें धन कुबेरोंकी संख्या बहुत बड़ी सुनी जाती है? परन्तु दाताओंकी संख्या बहुत छोटी देखनेमें आती है, तथापि विवेकी दाताओंकी संख्या तो अत्यल्परूपमें पाई जाती है। हिन्दुओंमें शेठ गोकुलदास तेजपालके नाम ले लेने के बाद दूसरा नाम किसका लिया जाय? यह विचार अपने स्वरूपमें ही लीन हो जाता है।

विवेक दृष्टिसे देखा जाय तो यह स्पष्ट विदित होगा कि, धनका दान ही धनका संग्रह हैं। धनकी इच्छा रहनेपर भी सर्व साधारण को उसकी प्राप्ति नहीं होती। इससे यह कहा जाता है कि "जो पूर्व जन्मका दाता है वही इस जन्ममें धनवान् होता है।" इसी न्यायसे यह

भी कहा जाता है कि जो इस जन्ममें दाता है वही इच्छाके होनेपर आगामी जन्ममें धनवान् होगा। एक सुभाषित कारने कहा है कि:—

दातारं कृपणं मन्ये मृतोऽप्यर्थं न मुञ्चति।
अदाता हि धनत्यागी धनं हित्वा हि गच्छति॥

इस सुभाषितका तात्पर्य स्पष्ट होनेपर भी गंभीर है। जों कृपण अपनेको यह समझता है कि मैं अपने धनकी रक्षा करता हूं वह इस समझमें भूल करता हैं। धनकी रक्षा तो उससे हो सकती ही नहीं। मरनेके बाद उसका धन यहां ही रह जायगा——साथमें नहीं जायगा। जन्मान्तरमें उसको दरिद्र होना पडेगा। सुभाषित कारने इसी आशयसे कृपणका उपहास किया है कि कृपण सबसे बडा दानी है; ताकि अपने कुल धनको यहां ही छोड गया है——अर्थात् किसीको दे गया है। यह कहनेकी तो आवश्यकताही नहीं कि कृपणका धन किसी-न, किसीके हस्तगत होगाही। सुभाषितकारने दाताको ही कृपण कहा है कारण कि दाता मरनेपरभी धनको अपने साथ लिये जाता है अर्थात् मरने परभी आगामी जन्ममें दानके प्रभावसे धनवान होता है। सारांश यह है कि दानही धनकी रक्षा है।

योगी याज्ञवल्क्यने तो दानको मोक्षका भी कारण माना है:—

येच दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः।
ते तु तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः॥

(प्रा. १८५ श्लो.)

न्यायागतधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् तत्ववादी च गृहस्थोपि हि मुच्यते॥

[प्रा. २०५ श्लो.]

सदा दान धर्म करनेवाला, आठ गुणोंसे युक्त, सत्यव्रती गृहस्थ भी योगियोंके मार्गसे ही ब्रह्मलोक तक जा सकता है। न्याय मार्गसे धन प्राप्त करनेवाला, आत्मा—अनात्मा के विचारमें सँलग्न, अतिथियोंको खकर प्रसन्न होनेवाला, श्राद्ध करनेवाला, सत्यवादी गृहस्थ भी मोक्षका अधिकारी हो सकता है। दया, क्षमता, अनिन्दकता, आभ्यन्तर बाह्य शुद्धि, असंत्रस्तता, मांगलिकता, अकृपणता, अस्पृहा, ये आठ गुणोंके नाम हैं! योगिराजका यह आशय है कि धन संग्रहके समयमें न्याय-मार्गका पालन अवश्य करना चाहिये। नीतिका अवलम्बन दानके समान ही धर्म है।

बहुधा यह देखा जाता है कि अनेक सज्जन ऐसे हैं जो स्वयं निस्पृह होनेका दावा करते हैं; किन्तु किसी गुप्त स्वार्थसे प्रेरित होकर धार्मिक-संस्थाओंके निर्माणके व्याजसे धनका संग्रह करते हैं। यह इनका व्यवहार भी सिद्धान्त-विरुद्ध है। यह तो ऊपर लिखा गया है कि निस्पृह व्यक्ति केवल उपदेशका अधिकारी है:—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥

जिसको धर्मके निमित्त धन संग्रह करनेकी इच्छा होती है, उसको यह जानलेना आवश्यक है कि धर्मार्थ धन-संग्रहकी अपेक्षा निर्लोभ रहना ही अच्छा है। जैसे कि कीचडमें जाकर उसको धोनेकी अपेक्षा; कीचडको स्पर्श न करना ही अच्छा है। सत्यवात तो यह है कि धनरूपी कीचडकी शक्ति अति प्रचण्ड है, एकवार लिपट गई तो इसको दूर करना असंभव-सा हो जाता है। यह तो ऊपर कहा ही गया है कि, त्यागियोंको इस झंझटसे अलग रहना चाहिये। इन लोगोंका एक मात्र कर्तव्य यह है कि ये लोग धनवानोंके विचारोंको परिमार्जित बनाये रखनेका प्रयत्न करते रहें। इनका यह प्रयत्न निजी स्वरूपकी सच्चाई है। उनके संसर्गसे ही जनताका विचार धर्मोन्मुख हो जाता है। चन्दन विशेष प्रयत्नके विना ही पार्श्ववर्ती वृक्षोंको निजके समान बना देता है। धनवानोंको भी यह उचित है कि मर्यादाकी रक्षाके लिये अपने-अपने धर्म स्थानोंको अपने-अपने अधिकारमें रखें।

'धन प्राणके समान प्रिय होता है' यह लोकोक्ति सर्वथा सत्य है तथापि यह भी सत्य है कि यदि धनसे धर्म न किया गया तो उससे अधर्म होनेकी संभावना बनी रहती है। ग्रन्थकारोंने दाताओंके पदको बहुत श्रेष्ठ माना है:—

कृपणता दुखपरम्पराका मूल कारण है—सुख परम्पराकी प्राप्ति केवल दानसे होती है।

भवन्ति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्यसंभवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन तस्माद्दानपरोभव॥

पाप नरकका कारण है। दारिद्र्य पापका कारण है। कृपणता दारिद्र्यका कारण है। इस लिये दानीबनना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि शक्तिके होनेपर भी जो दान नहीं करता है वह जन्मान्तरमें दरिद्र बनता है। दरिद्रतासे पीडित होकर पाप करता है। पापी होनेपर नारकी बनता है। दरिद्रता पापका कारण है यह मानी हुई बात है। इसी लिये कहा जाता है कि "**बुभुक्षितः किन्नकरोति पापम्**" बुभुक्षित--क्षुधासे पीडित मनुष्य, कौन ऐसा पाप है जिसको नहीं करता ? अर्थात् अवश्य करता है। इसी उपदेशसे यह सिद्ध होता है कि, दाता धनवान् होता है। धनसे धर्मका संपादन करता है। धर्मसे स्वर्गादि सुखका अधिकारी बनता है।

"दान करनेसे धन घट जायगा, धनके घटनेसे गौरव घट जायगा, लोकमें गौरवका कारण एक--मात्र धनही है" यह विचार अति तुच्छ है। यह विचार नहीं है--अविचार है। वास्तव गौरवकी प्राप्ति दानसे ही होती है; केवल संचयसे नहीं:—

गौरवं प्राप्यते दानान्नतु वित्तस्य संचयात् ।
स्थितिरुच्चैः पयोदानां पयोधीनामधः स्थितिः ॥

दानसे ही गौरवकी प्राप्ति होती है नकि धनके संचयसे। जलके दानसे मेघोंकी स्थिति ऊँची मानी जाती है। जलके संचयसे समुद्रोंकी स्थिति नीची मानी जाती है। इस सुभाषितका मर्म यह है कि मेघ मण्डलके दानसे जगत्का उपकार होता है। मेघ मंडल भी सदा जलदानमें समर्थ

बना रहता है। यही गति दाताओंकी है। समुद्र जलका संचय करता है इसके जलसे जनताका विशेष उपकार नहीं होता है; यही कारण है कि यह मेघ मंडलकी अपेक्षा हलका माना जाता है। यही गती कृपण धनवानोंकी है।

इस सुभाषितका तात्पर्य भी ध्यानमें रखने लायक है:—

भिक्षुका नहि याचन्ते बोधयन्ति गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां दानमदत्तफलमीदृशम् ॥

सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो यह ज्ञान प्राप्त होगा कि याचक वास्तवमें याचना नहीं करते हैं, वे घर-घरमें इस बातकी सूचना देते हैं कि दान दो—दान दो; न देनेका फल यह होगा कि हमारे समान ही कालान्तरमें याचक बनना पड़ेगा। इस सुभाषितका तात्पर्य अक्षरशः सत्य है। यह मानना पडता है कि संसारका सुख या दुःख प्रारब्धाधीन ही है **"मतिमतांच विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः"** योग्य बिद्वान् और बुद्धिमानोंको दरिद्र देखकर अनुभवियोंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि प्रारब्धही सबसे अधिक बलवान् है। यह बनता है दान आदि सत्कर्मोंके आचरणसे। कुन्तीने ऋतुस्नान के बाद नमस्कारार्थ आई हुई पुत्र वधूको यही आशीर्वाद दिया है कि—

"भाग्यवन्तं प्रसूयेथाः मा शूरं माच पण्डितम्।
शूराश्च कृतविद्याश्च वने सीदन्तिमे सुताः ॥"

अर्थात् भाग्यवान् पुत्र जन्माओ; केवल विद्वान् या बलवान् नहीं। नामाङ्कित, बलवान् तथा विद्वान् मेरे पुत्र बनमें कष्ट पा रहे हैं। यह निश्चित ही है कि भाग्यवान् वही होता है जो पूर्व कालमें दानादि धर्मका आचरण किये रहता है।

इस लिये भी दान देना आवश्यक है कि धनकी स्थिति नियत कालके लिये है। आयुष्यके पूर्ण होनेपर धन अवश्यही सम्बन्धका विच्छेद कर देगा। दानसे अतिरिक्त ऐसा कोई उपाय नहीं है जिसके द्वारा धनका सम्बन्ध सदाके लिये स्थिर रखा जाय।

दानं भोगोनाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्यतृतीया गतिर्भवेति॥

धन जानेके तीन मार्ग हैं——दान, भोग और नाश। जिसने अपने धनसे लोकोपकारी धार्मिक संस्थाओंका निर्माण नहीं किया है अथवा जिसने धर्म रक्षा पूर्वक अपने धनसे सुखका अनुभव नहीं किया है उसका धन समय आनेपर नाशके मार्गसे चला जाता है।

अनेक विवेकहीन धनवान् इसलिये दान नहीं देते हैं कि दानके देनेसे धन घट जायगा, भविष्यमें धनके बिना बाल-बच्चोंको कष्ट होगा। उनकी यह समझ सर्वथा भ्रम पूर्ण हैं:——

अनुकूले विधौ देयं यतः पूरयिता हरिः।
प्रतिकूले विधौ देयं यतः सर्वं हरिष्यति॥

जिस समय धन बढ रहा हो उस समय मुक्त हस्त होकर दान देना चाहिये। यह भय व्यर्थ है कि देनेसे धन घट जायगा। पूरयिता भाग्यके साक्षी भगवान् हैं। जिस समय धन घट रहा हो उस समय भी दान देना चाहिये। और इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखना चाहिये कि भाग्य प्रतिकूल है तो सर्व धन जानेहीवाला है। धनके देनेमें तथा लेनेमें एक मांत्र प्रभु अधिकारी हैं। धनवानोंसे यह कहनेकी आवश्यता नहीं है कि कितनीही सावधानी रक्खी जाय तौ भी धनके संग्रहमें साथही साथ पापका भी संग्रह हो जाता है। उस पापकी निवृत्तिके लिये दान-धर्मकी नितांत आवश्यकता है। इस विषयको 'कूप खननन्याय, से समझलेना चाहिये। कूपकी तैयारीमें अनेक-जीवोंका घात होता है जो पापका कारण बनता हैं। कूपके जलसे अनेक जीवोंका उपकार होता है, तो इसी उपकारसे कूप निर्माणके सययमें किया गया पाप निवृत्त हो जाता है। अधिक पुण्यकी प्राप्ति होने लगती है। कूपकर्ता को पीनेके लिये पानी मिलने लगता है। कूपकर्ता यदि कूपका पानी दूसरोंको नहीं पीने देता है तो वह कूप निर्माण कालके पापसे मुक्त नहीं होता।

वेदों में, शास्त्रों में, इतिहासासों में, पुराणों में, महर्षियों के उपदेशों में जहां देखा जाय वहां ही दान का महत्व पाया जाता है। धनवान् होने पर भी यदि सत्कर्म न किया गया तो धन का प्रयोजन ही क्या रह गया? निज के पेट की पूर्ति तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं **"काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुंक्ते"** कौवा भी बहुत

दिनों तक जीता है तथा कहीं न कहीं से योग्य आहार प्राप्त कर लेता है। दान के सम्बन्ध में अधिक कुछ न लिख कर यह कह देना आवश्यक मालूम होता है कि धनवान् लोग इस पूर्वजों की उक्ति का मनन करें:—

येषां न विद्या न तपो न दानं न चापि शीलो न गुणो-न धर्मः। ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्य रूपेण मृगा-श्चरन्ति॥

जिनमें मानवता-समर्पक विद्या या तप या दान या सदाचार या गुण या धर्म नहीं हैं वे मनुष्य के रूप में पशु हैं। अर्थात् मानव नामधारी चतुष्पद हैं। ध्यान से देखा जाय तो इस उपदेश का यह आशय है कि जिनमें विद्या आदि में से एक भी नहीं है उनका मनुष्य होना ही व्यर्थ है। विद्या आदि कष्ट-साध्य धर्मों में से दान ही धनवानों के लिये सुख-साध्य है। ऊपर के उपदेश में विद्या आदि शब्दों के साथ विशिष्ट शब्द जोड देना चाहिये। विशिष्ट विद्या, विशिष्ट तप, विशिष्ट दान, इत्यादि।

यह निबन्ध जहां तक बढाया जाय—बढ सकता है, परन्तु बढाना इष्ट नहीं है। कतिपय प्रचलित उपदेशों को बता कर यहां ही स्थगित कर दिया जाता है। न बढाने का कारण बताया गया है कि धनवानों को समय का संकोच रहता है।

दानं वित्तादृतं वाचः कीर्तिधर्मौ तथायुषः।
परोपकरणं कायादसारात् सारमाहरेत्॥

क्षणिक होने से धन असार है; इससे सार भूत दान-धर्म का संपादन कर लेना चाहिये। वाणी से सत्य-धर्म का संपादन कर लेना चाहिये, अर्थात् क्षणिक होने से वाग् व्यवहार असार है; सत्य ही उसमें सार है। असारभूत आयुष्य से सारभूत कीर्ति और धर्म का संपादन कर लेना चाहिये। आयुष्य असार है; चिरस्थायी होने से कीर्ति और धर्म सार है। असार शरीर से सार भूत परोपकार का संग्रह कर लेना चाहिये। शरीर का अर्थ यहां बल प्रतीत होता है, परिमित होने से शरीर असार है, व्यापक होने से परोपकार सार है। सारांश यह है कि दान न किया गया तो धन व्यर्थ है, सत्य न बोला गया तो वाणी व्यर्थ है; कीर्ति और धर्म न प्राप्त हुए तो आयुष्य व्यर्थ है, परोपकार न किया गया तो बल व्यर्थ है। यदि दान दिया गया तो धन सार्थक है , सत्य बोला गया तो वाणी सार्थक है, कीर्ति और धर्म का उपार्जन किया गया तो आयुष्य सार्थक है। एवं परोपकार किया गया तो बल सार्थक है।

राजर्षि भर्तृहरिने कहा हैं कि:—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिःपरेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीत मेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

दुर्जन की विद्या का प्रयोजन विवाद, दुर्जन के धन का प्रयोजन अभिमान, दुर्जन के बल का प्रयोजन पर पीडन होता है। सज्जन की विद्या का प्रयोजन ज्ञान, सज्जन के धन का प्रयोजन दान और सज्जन के बल का प्रयोजन रक्षण होता है।

पं. रमापति मिश्र जी का यह सुभाषित भी विचारणीय हैं:—

यस्य दानेन जीवन्तो ह्लादन्ते भुवि जंतवः ।
म्रियते स्वस्य रूपेण नामतस्तु स जीवति ॥

जिसके दान से जीविका प्राप्त कर जगत में जनता आनन्द का अनुभव करती है वह दाता स्वरूप से परोक्ष हो जाता है तौ भी अपने नाम से सदा जनता के समक्ष रहता है ।

मिश्र जी का यह विचार मननीय है कि:—

एकस्मिन् दिवसेब्देऽपि विदुषः सत्करोति यः ।
महाविद्यालयाधीशसमत्वं स समश्नुते ॥

जो सद्गृहस्थ प्रतिवर्ष एक दिन भी विद्वानों का सत्कार करता है वह महाविद्यालयों के संस्थापकों के समान कहा जा सकता है । इस वचन का तात्पर्य यह है कि संस्कृत के विद्वानों का कुटुम्ब बहुत थोडे व्यय से अपना भरण-पोषण करता है, संस्कृत के विद्वान भी यदि निश्चिंत रहें तो पठन-पाठन को ही पसन्द करते हैं । जनता पुत्र जन्म, पुत्र विवाह, पिता का पार्वण अथवा एकोदिष्ट आदि पितृयज्ञ एवं देव-प्रतिष्ठा देवमहोत्सव आदि प्रसंगों पर यदि निकटवर्ती विद्वानों का सत्कार करेगी तो प्रत्येक विद्वान का घर विद्यालय, महाविद्यालय का रूप धारण कर सकता है । जनता को भी ऐसे समयों पर योग्य विद्वानों का आशीर्वाद प्राप्त हो सकेगा । जिस कार्य में उत्सव-वृद्धि के निमित्त सहस्रों का व्यय होता है उस कार्य में विद्वानों

के सत्कार में यदि सौ-पचास का व्यय हो जाय तो सुगन्धप्राप्त सोना के समान उत्सव का स्वरूप भी अत्यधिक रमणीय हो जायगा।

श्रीमद्भागवत में दशमस्कन्ध के उत्तरार्ध में भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र ने भी यह स्पष्ट कहा है कि विद्वानों के सत्कार के बिना सब ही धर्म कार्य निष्फल जाते हैं:—

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः। उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥ १२ ॥

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः। यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः। (अ. ८४ श्लो. १२-१३)

ईश्वर बुद्धि से अग्नि, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, पृथ्वी, जल, आकाश, वाणी और मन की उपासना शास्त्रोक्त होने पर भी अज्ञानियों के पाप को उतना शीघ्र हरण नहीं करती जितना शीघ्र की थोडी सेवा से उसे विद्वान् दूर करते हैं।

जो मनुष्य शरीर को आत्मा मानता अथवा पुत्र कलत्रादि को आत्मीय मानता है अथवा पार्थिव पदार्थों से निर्मित देवताओं में पूज्य बुद्धि करता है अथवा गंगा जल आदि में तीर्थ बुद्धि करता है परन्तु भूल कर भी विद्वानों में आत्म बुद्धि, आत्मीयबुद्धि, पूज्यबुद्धि, तथा तीर्थ बुद्धि नहीं करता है वह पृथ्वी के ऊपर गर्दभ के समान।

भगवान्‌के इस कथनका आशय यह है कि, जो विद्वानोंके महत्वको नहीं समझता उसका यह अभिमान व्यर्थ है कि मैं धर्मात्मा या बुद्धिमान् हूँ। भगवान्‌ने यह निश्चय कर रखा है कि सर्व प्रथम विद्वानोंका सत्कार आवश्यक है, अनन्तर यथा शक्ति यथावकाश अन्य इष्टापूर्त्तादि धर्मोंकी आवश्यकता है । धर्माधर्मोंका ज्ञान शास्त्रसे होता है, शास्त्रकी रक्षा विद्वानोंसे होती है; अतः विचार पूर्वक देखा जायतो विद्वानोंकी रक्षा ही शास्त्र, धर्म तथा व्यवस्थित व्यवहारकी रक्षा है । संकल्प रहित सामान्य दानके सम्बन्धमें मनुभगवान्‌का यह मत हैं कि:—

समम्ब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥
(अ ७ श्लो. ८५)

अर्थात्—

जो अन्नवस्त्रादिदान ब्राह्मणसे इतरको दिया जाता है दाताको उसका फल समान रूप से मिलता है । अर्थात् जिस प्रमाण में दान दिया गया है उसी प्रमाण में उसका फल मिलता है । ब्राह्मणोचित गुण कर्म से रहित जन्मना ब्राह्मण को दिया गया दान द्विगुण होकर कालान्तर में दाता को प्राप्त होता है । विशिष्ट ब्राह्मण को दिया गया दान लक्षगुण होकर प्राप्त होता है । वैदिक ब्राह्मण को दिया गया दान अपरिमेय रूपसे प्राप्त होता है । इस उपदेश का रहस्य यह है कि

दाता को दान देते समय दान लेने वाले की योग्यता जाति और परि-स्थिति के ऊपर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

॥ शुभम् ॥

——:०:——

विधवाश्रम मीमांसा

प्रकाशतस्कराणां यो नानानेपथ्यशालिनाम्।
वेत्ति गुप्तां गतिं सैव श्रृणोति विदुषां वचः ॥ १ ॥

विधवाओं का वैधव्य व्रत नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत से भी अत्यधिक महत्व का है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपनी शक्ति को देख कर अपने व्रत का संकल्प लेता है। विधवाओं के ऊपर यह व्रत दैवात् आपतित होता है। अतः इस व्रत के निर्वाह में विधवाओं को विशेषतः अस-हाय विधवाओं को सभ्य जनता की सहायता अपेक्षित होती है। विधवा के निकटवर्ती कुटुम्ब यदि साहयता पहुंचाने में असमर्थ हो तो दूरतरवर्ती धनवान् गृहस्थों का तथा संपन्न विधवाओं का यह आवश्यक कर्तव्य है कि, असहाय विधवाओं को खोज-खोज कर उनको सहायता पहुंचाने का प्रयत्न करें। विधवाओं का यह व्रत भारतवर्ष का असाधारण धर्म है। इस धर्म के पालन में अनादिकाल से भारतवर्ष ही सर्व श्रेष्ट

माना गया है इसी व्रत के प्रभाव से भारत का सभ्य कुटुम्ब वर्णसंकरता से बचा है इस व्रत के बल पर ही भारतवर्ष अपने को देव लोक से भी अधिक पवित्र मानने का गर्व करता है। भारतवर्ष की स्त्रियां इसी व्रत के प्रभाव से माता तथा सती कही जाती हैं। मैं विधवाओं की सहायता का सर्वतोभावेन समर्थन करता हूं तथा यथाशक्ति स्वयं भी............

विधवाओं की सहायता के पूर्ण पक्षपाती होने पर भी मुझे विधवाश्रमों की स्थापना नापसन्द है। विधवायें जिस शुद्ध भावना से अपने व्रत का निर्वाह अपने कुलीन कुटुम्ब के निकट में रहकर कर सकती हैं उस प्रकार अन्यत्र स्वतन्त्र या परतन्त्र रहकर नहीं। सभ्य विधवाओं का यही उचित कर्तव्य है कि ये अपने पतिदेव या पिता के कुटुम्ब के साथ अथवा किसी सम्पन्न सभ्य विधवा के साथ रहकर अपने विकट व्रत का पालन करें। विधवाओं के लिये आश्रमों की स्थापना केवल आडम्बर है—नई सभ्यता का अनुकरण है—स्कूलियन तथा कालेजियन तरुणी कुमारियों की तरह नये ढंग की विधवाओं के आदर्श का विधाता है।

आश्रमों के द्वारा विधवाओं की रक्षा करने में सहायक दाताओं से अतिरिक्त आश्रम के संचालकों की आवश्यकता उपस्थित होगी। ये संचालक कहांतक सच्चरित्र होंगे यह जानना उन लोगों के लिये असम्भव होगा जो कि आश्रम के निर्माण को आवश्यक मानते हैं।

प्रायः ऐसे–ऐसे आश्रमों में कार्य करनेवाले चलते पुर्जे वे ही होते हैं जिनको तरह–तरह की बातों से जनता को अनुरक्त बनाना आता है, परन्तु हृदय निर्भय रहता है। शुद्ध हृदय के कुलीन व्यक्ति तो ऐसे आश्रमों के उत्तरदायित्व से डरते हैं तथा निर्दोष परिणाम में शंका-शील रहते हैं।

आश्रम के निर्माण में जो व्यय होगा वह निरर्थक होगा तथा सज-धज से बने आश्रमों में रहने के लिये जो व्यवस्था की जायगी उसमें भी जो अत्यधिक व्यय होगा वह भी प्रायः निरर्थक ही होगा। उच्चकोटि के आश्रम तथा उच्चकोटि के भोजनादि सामान वैधव्य-व्रत के साधक नहीं है। प्रत्युत बाधक है।

आश्रम में आने वाली विधवायें स्वभाव से तथा सदाचार से परीक्षित हैं, कि नहीं यह जानना अति दुष्कर कार्य होगा। कौन विधवा किस ध्येय से आती है यह भी समझना कठिन होगा। मेरी राय में तो आश्रम में आने वाली अधिक विधवायें ऐसी ही होंगी जिनको व्यक्तिगत जीवन के अनुयायी होनेसे सभ्य कुटुम्बियोंके साथ रहकर शांतिपूर्वक वैधव्य-धर्मका पालन प्रायः असह्य मालूम होता होगा।

आनेवाली विधवाओं को एक स्थान में समानरूप से रखा जायगा तो वर्णाश्रम व्यवस्था संकट में आ जायगी। अलग-अलग भिन्न-भिन्न रीति-भांति से रखा जायगा तो परस्पर कलह की संभावना उपस्थित होगी। अलग-अलग रखने की व्यवस्था करने पर भी अनाश्रमी साधुओं के मठ के समान वर्ण व्यवस्था तो संकट में आई ही जायगी।

अनेक स्वभाव की अनेक विधवाओं को एक स्थान में रखने से दृश्य अति बीभत्स और करुणाजनक होगा जो कि अन्ततोगत्वा वैधव्य व्रत का विरोधी बनेगा। आगत विधवाओं में यदि कुछ विधवायें शील-हीन होकर आई होंगी और शील-हीन होकर रहना ही उन्हें पसन्द होगा तो वे शनैः शनैः अपना प्रभाव आश्रम के ऊपर व्यवस्थित करेंगी। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि आश्रम में आई हुई विधवायें प्रायः तरुणी ही रहेंगी। और यह भी कहा जा सकता है कि इनमें से अधिक स्वतन्त्र स्वभाव के ही होंगी। सुशील कुलीन विधवायें अनेक क्लेशों के उपस्थित होने पर भी कुटुम्ब से अलग होने में अपना अपमान ही समझती हैं।

आश्रमों के द्वारा वैधव्य-व्रत की रक्षा करने का साहस करना मुझे पसन्द नहीं है। जो लोग ऐसा साहस करते हैं उनकी बुद्धि पर मेरा विश्वास नहीं है। आश्रमों के द्वारा सर्व असहाय विधवाओं की रक्षा भी असंभव है। आश्रमस्थ सौ दो सौ विधवाओं की रक्षा से ही विधवाओं की रक्षा हो गई यह मान लेना भी अपनी अदूर दर्शिता का परिचय देना है। यदि विधवाओं की रक्षा हम लोगों को अपेक्षित है तो, हम लोग आश्रमों के द्वारा प्रत्येक विधवाओं के ऊपर पन्द्रह-पन्द्रह रुपये खर्च न कर दो-दो रुपये के खर्चे से सभ्य विधवाओं की रक्षा व्यवस्थित रूपसे करने का प्रयत्न करें। आश्रम के मोह को छोड़ें, कलकत्ता आदि स्थान की रिपोर्ट पढ़ें।

जो सद्गृहस्थ व्यक्तिगत रूपसे सहायता देना चाहते हैं वे विधवाओं की रक्षा के निमित्त कुछ धन दान के रूपमें अलग कर दें

उसके वार्षिक आय से यथावकाश विधवाओं की रक्षा करें। जनता के समक्ष भी इस प्रकार की सूचना दे दें कि जो विधवा अपने पतिदेव के कुटुम्ब के साथ अथवा पिता के कुटुम्ब के साथ रहती है उसको यदि सहायता की अपेक्षा हो तो वह जिस कुटुम्ब के साथ रहती है उस कुटुम्ब के द्वारा मेरे पास निवेदन पत्र भेजे। प्रतिमास मेरे यहां से दो रुपये भेजे जायंगे। उन रुपयों से सूत कात कर या अन्य किसी कला से उसको बढाकर अर्थ संकट से बचते हुये अपना जीवन-यापन का सरल मार्ग निश्चय कर सकती है।

यदि संस्था के द्वारा जनता इस कार्य को करना चाहती हैं तो संस्था के द्वारा भी कर सकती हैं। संस्था के द्वारा इस कार्य को करना हो तो इस बात को ध्यान में रखिये कि यह संस्था मेरी सभ्यता के पक्ष में है या विपक्ष में है। यह कार्य यदि "वर्णाश्रम स्वराज्य संघ" की शाखाओं के द्वारा किया जायगा तो अतिपवित्रता के साथ सम्पन्न होगा। सूरत शहर में 'अन्न पीडित कुटुम्ब सहायक' एक फंड है उसके नियमों को जान लेना भी आवश्यक है, यह फंड प्रतिष्ठा की रक्षा पूर्वक अन्न-हीन कुटुम्बियों को अन्न प्रदान करता है। नास्तिकों के तत्वावधान में सत्कर्म की आशा मूर्खता है।

विधवाओं की सहायता संपन्न विधवाओं के द्वारा भी कराने का प्रयत्न आवश्यक है। भारत वर्षमें ऐसी अनेक सदाचार सम्पन्न सभ्य विधवायें हैं, जिनमें प्रत्येक अनेक-अनेक-विधवाओं की रक्षा कर सकती हैं। ऐसी-ऐसी सुयोग्य विधवाओं को केवल यह समझा

देने की आवश्यकता है कि आप लोग इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से अथवा तो फंड द्वारा विधवाओं की रक्षा कीजिये जिससे अल्प व्यय से अधिक विधवाओं की रक्षा हो सके। दानवीर विधवायें इस सहायता प्रदान को अवश्य पसंद करेंगी। तथा अन्य विधवाओंके द्वारा अनेक विधवाओं को सहायता दिलवाने का यत्न करेंगी। ऐसी-ऐसी धर्मप्राण विधवाओं को यह समझाने की आवश्यकता है कि बी. ए. एम. ए. परीक्षा पास करने की अभिलाषा से पढनेवाली छात्राओं की सहायता की अपेक्षा सभ्य विधवाओं की सहायता से अधिक धर्म होता है। एक छात्राकी सहायता में जो व्यय होताहै उससे पांच सात विधवाओं को सहायता दी जासकती है। बी. ए. एम. ए. विधवाओं की जीवनी सर्वत्र विख्यात है !

—~-:०:——

गोरक्षा मीमांसा

मातुस्तन्येन तुष्यन्ति शिशवस्स्वाङ्गसंभवाः।
शिशवोऽशिशवोऽजाता जाताआस्वाद्य गोपयः॥

गौओंकी रक्षा आवश्यक है। हिन्दुओं के लिये यह अत्यावश्यक है। इस विषय पर विशेष रूपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करना पृष्ट-पेषण के समान है। धार्मिक दृष्टि से इस विषय पर विचार किया जाय तो यह मालूम होगा कि हिदून्र्धम में गोरक्षाका स्थान बहुत बडा है। वेदोंसे लेकर पुराणों तक के साहित्यों में गोरक्षा

का माहात्म्य भूरि-भूरि रूपसे वर्णित पाया जाता है । गौओंको रुद्रों की माता तथा वसुवोंकी दुहिता कहकर वेदभगवान ने गौओंको जिस पद का प्रदान किया है वह पद प्रायः दूसरे को दुर्लभ ही नहीं किन्तु अलभ्य प्रतीतं होता है। जो गौ देवताओं की माता हैं वह प्राणीमात्र को माता के समान पूज्य हैं यह स्वतः सिद्ध होजाता है। दानों में भी गोदानका ही माहात्म्य अन्य दानोंकी अपेक्षा अधिक माना गया है।

गौओं के रोम-रोममें एक-एक देवताओं का निवास माना गया है। एक गौके सम्मान से उतने देवताओं का संमान होता है जितने रोम गौके शरीरके ऊपर विद्यमान हैं। अवतार पुरुषों ने गौओं के सम्मान से जनता को यह उपदेश दिया है कि हम जगत-पूज्य भी गौओं को पूज्य मानते हैं। गौओं के सत्कार से हमें प्रसन्नता प्राप्त होती है। मेरे सत्कार से गौओं का सत्कार प्रथम तथा आवश्यक हैं।

भारत के भूत पूर्व महापुरुष गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक विशेषण से विभूषित किये जाते थे। प्रथाके अनुसार नाम मात्र के लिये अद्यापि कितने सत्पुरुष इस विशेषण से विभूषित किये जाते हैं। यह विशेषण महापुरुषों की धार्मिकताका परिचायक है। इस से जनता जान सकती हैं कि धार्मिक दृष्टि से गौओं का महत्व कितना ऊँचा है। गौओं के महत्व के पोषक अनेक लेख सदा प्रकाशित हुआ करते हैं। मैं उन्हीं के अनुवाद से इस निबन्ध के शरीर को स्थूल बनाना अनावश्यक समझता हूं।

व्यवहार की दृष्टि से भी गौओं का संरक्षण और परिवर्द्धन अत्यावश्यक है, यह विषय भी आबाल–वृद्ध को विदित है। गौओं के दूध से जो जो लाभ होते हैं उनका वर्णन जिसको जानना हो वे आयुर्वेद के विद्वानों से जान सकते हैं। गौओं का दूध माता के दुध के समान माना जाता है; माता के दूध से जो जो लाभ होते हैं वे सबही गौओं के दूध से होते है । यही कारण है कि रोगियों को तथा मातृ-हीनं अबोध-बालकों को गौओं का ही दूध दिया जाता है। देशी या विदेशी सब ही वैद्य गौओं का दूध देने की अनुमति देते हैं। आयुर्वेद के ज्ञाता यह भी कहते हैं कि गौओं के मूत्र से अनेक हार्दिक रोगों का समूल विनाश होता है। गोमय से संस्कृत भूमि में सूक्ष्म-सूक्ष्म कीटों का निवास नहीं होने पाता, इस भूमिपर लोट-पोट करने वाले रोगियों के अनेक रोग भी शान्त हो जाते हैं। गोमय के संस्कार के बादही भूमि देवकार्य के योग्य पवित्र बनती है।

गोमय, गोमूत्र, गोदधि, गोघृत, गोदुग्ध इन पांच के मेलों से संपन्न हुआ पदार्थ पञ्च गव्य कहा जाता है जो अन्तःकारण को शुद्ध करने में समर्थ माना जाता है । विज्ञानवादी भी इस सिद्धान्त का विरोध नहीं करते । महर्षियोंने पञ्च गव्य में ही इस सामर्थ्य का स्वीकार किया है जिस से पवित्रता प्राप्त होती है । गो दुग्ध से जो बल प्राप्त होता है वह परिश्रम का सहिष्णु बनता है, यह देखा जाता है कि भैंस के दुग्ध से पले हुए पाड़े बहुत बलवान् होते हैं, परन्तु परिश्रम करने पर क्षीण हो जाते हैं; जहां पाडों से हल जोता जाता

है वहां के लोगों को इस बात का पूरा अनुभव है । गौके दूधसे पले हुए बछड़े हल या गाडी आदि में जोतने पर भी अधिकाधिक पुष्ट होते जाते हैं । मल्ल लोग भी गौके दुग्ध कोही पसन्द करते हैं । कहने का सारांश यह कि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक अंश में गौओं की विशिष्टता अवगत होती है । कृषि प्रधान देशों में तत्रापि धनहीन देशों में गो-वंश की आवश्यकता सर्व साधारण को विदित है । इस प्रकार के पवित्र और उपयोगी जीवों की रक्षा करना मनुष्य मात्रका परम धर्म है । रह गया रक्षा के उपायका अन्वेषण । इस विषय में मेरी प्रतिभा किसी निश्चित उपाय के अवलम्बन में भयका अनुभव करती है ।

भय का कारण यह है कि वस्तुतः जिस को उपाय कह सकते हैं वह हम से बहुत दूर है । दूर का यह अर्थ नहीं है कि आगे चलने पर हमको प्राप्त होनेवाला है । दूर का अर्थ यहां यह है कि हम सच्चे उपाय को पीछे छोडकर बहुत आगे बढ़ आये हैं । गोरक्षाका प्रश्न केवल नागरिक नहीं है, केवल ग्रामीण भी नहीं है; नागरिक और ग्रामीण दोनों है। इस को आरण्यक भी कह सकते हैं । इस के लिये जिस उपाय का अवलम्बन अपेक्षित है नगर, ग्राम और अरण्य में भी उस का अस्तित्व अपेक्षित है । वाचक यह जान सकते हैं कि उक्त तीनों स्थलों में गोरक्षा और उस के उपाय का अवलम्बन कितनी बडी सामग्री की अपेक्षा रखता है ।

यह महान् कार्य पहले श्रद्धा के द्वारा सम्पन्न होता था। श्रद्धा के उत्पादक और संरक्षक विद्वान् ब्राह्मण होते थे। ये कथा पुराण आदि के द्वारा गो रक्षाकी आवश्यकता को प्रजाके समक्ष घोषित करते थे। प्रजा का इनपर पूरा विश्वास था, वह इनकी बात को आदर पूर्वक मानती थी, गो रक्षा करना मेरा परमधर्म है, गौओं को क्लेश पहुचाना परम अधर्म है, इस बुद्धि सें माता-पिता के समान गौओंका सत्कार करती थी। गो रक्षा के लिये अपने प्राणोंकी चिन्ता को भी तुच्छ समझतीं थी।

वर्तमान काल में विद्वान् ब्राह्मण वहुत कम देखने में आते हैं। जनता में इनका समुचित आदर भी नहीं है विद्वान सदाचारी ब्राह्मणों की पुराणकथा का प्रचारभी कम है। यही कारण है कि गोरक्षा आदि सवही धार्मिक कार्यों में शिथिलता आगई है। धर्म-प्राण भारतवर्ष अधर्म का केंद्र बन गया है। अप्रामाणिकता आदि दुर्गुणों का निवास स्थान बन गया है। आदर के घट जाने से अन्य जाति की अपेक्षा ब्राह्मणों में भी ये दुर्गुण अल्परूप में नहीं दीख पडते हैं!

इस देश में ब्राह्मणों का आदर कब से घटा है? क्यों घटा है? इस प्रश्नका उत्तर सरल नहींहै। आदर घटनेके कारणभी अनेक हैं। प्रथम कारण तो काल है, इस काल को कलिकाल कहते हैं। इसको अधर्म अधिक प्रिय है, धर्मका यह द्रोही है, जो धर्मका द्रोही होता है वह अवश्य ही ब्राह्मणोंसे द्रोह करता है। वह यह जानता है कि ब्राह्मणोंकी शक्ति को छिन्न-भिन्न किये विना धर्म की शक्तिका ह्रास करना असंवभ

है। अस्तु यह कारण साधारण है; प्राणी मात्रका इसके साथ संबन्ध है।

दृष्टिकारण यह है कि भारत वर्ष में चिरकालसे विधर्मी राजाओं का शासन प्रचलित है। इन राजाओं के मनमें यह भावना बनी रहती है कि इस देश के पूच्छन्न राजा ब्राह्मण हैं। प्रजा इनकी आज्ञा का राजाज्ञा से भी अधिक सम्मान करती है, इनको किसी न किसी उपाय से प्राकृतिक उच्चपद से च्युत करना ही हम लोगों के लिये श्रेयस्कर है। इस निश्चय के अनुसार विधर्मी राजाओं ने अनेक उपायों से ब्राह्मणों के महत्व को घटाने का पूयत्न किया है तथा प्रचलित अपनी शिक्षा के द्वारा एक ऐसा भारतीय दल तैयार किया है जो ब्राह्मण, वेद, और गौ इन तीनों के महत्व को प्रचलित बंचना समझता है। इस दल के द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों के सम्मान और भिक्षा जीवन पर बहुत वडा आघात पहुंचा है। इस आघात से उद्विग्न होकर अधिकांश ब्राह्मणकुमार भी वर्तमान विदेशी शिक्षा में संमिलित हो गये हैं जो "स्वयं नष्टः परान् नाशयति" इसी नीतिके अनुसार अपनी निरपेक्षता, निरभिमानिता और समदर्शिता को विधर्मी राजा और पूजा के समक्ष अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से इतर जातियो की अपेक्षा कहीं अधिक वेद, ब्राह्मण, वर्ण-विवेक तथा गौओं के महत्त्व का उपहास करते हैं। इनके बहुमत से भीत कुछ उदरंभी संस्कृत विद्वान् भी इनके अनुयायी बने हैं। इनका यह उपहास गोरक्षा की भावना को शनैः शनैः क्षीण करता जाता है। हिन्दू जाति को आकिंचन बनाता जाता है।

ब्राह्मणों का अनादर तथा उससे होने वाले अधर्मों में आस्तिक-मानी थोडे भारत वासियों का भी सहयोग विद्यमान है। भारतवर्ष में एक

ऐसा भी दल विद्यमान है जो अपने को त्यागी धर्मात्मा और आस्तिक विघोषित करता है। वह यह कहा करता है कि कीचड से कीचड नहीं धोया जाता गृहस्थ ब्राह्मणों के सम्मान से गृहस्थों का कल्याण नहीं हो सकता। इस धूर्तता पूर्ण उपदेश से प्रभावित होकर यह जान कर भी कि 'ब्रह्मा से आरम्भ कर महर्षिगण पर्यन्त सबही सृष्टि के सूत्रधार गृहस्थ ही माने जाते हैं' अनेक भारतवासियोंने विद्वानोंसे अपने आदर को हटाकर उन लोगों में सन्निविष्ट कर दिया है जो संप्रति साधु, सन्त, महन्त, मठाधीश आदि शब्दों से पुकारे जाते हैं। इन लोगों से अथवा इन लोगों के प्रभूत-सम्पत्ति से गो-रक्षा आदि धर्म कार्यों को जो तुच्छ सहायता प्राप्त होती है वह जनता को विदित है। तौभी पूजा इनको अब भी लाखों रुपये देती है अथवा इन के कहने से लाखों के खर्च से अनावश्यक संस्थाओं को बना देती है विश्वास के स्थिर हो जाने से इन की दिन-चर्यापर ध्यान नहीं देती है इस सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं हैं।

प्रजा को स्वयं यह जान लेना आवश्यक है कि देश या धर्म की रक्षा सदाचारी विद्वानों से ही हो सकती है। शास्त्रों में अनेक मत विद्यमान हैं परन्तु उनमें परस्पर आभ्यन्तर द्वेष जनक वर्गी करण नहीं देखने में आता। यह व्यवहार कहीं नहीं देखा जाता कि परंपरासे अमुक दल न्याय संपूदायका है, अथवा अमुक दलका संप्रदाय वेदान्त है तथा अमुक दल ऋग्वेदी होने से यजुर्वेद की आज्ञा को नहीं मानता अथवा अमुक यजुर्वेदीदल ऋग्वेद की आज्ञा को नहीं मानता। निरपेक्ष

सभ्य विद्वान् यथा शक्ति सवही वेद शास्त्रों का धार्मिक साहित्य की दृष्टि से आदर करते हैं। स्वस्वशाखा के अनुसार अपने-अपने कर्मों को करते हैं। आध्यात्मिक भावनाके संबन्धमें पूर्ण विचार के बाद अन्त में जिस सिद्धान्त पर उनकी बुद्धि स्थिर हो जाती है उसका विशेष रूप से मनन करते हैं। वे कंचन कामिनीकी लिप्सासे मुक्त हृदय के शुद्ध होने से; निजकी संतान परम्परा अथवा शिष्य परम्परा की रक्षाके लिये तत्कालीन आज्ञांकित प्रजा के समुहसे एक संकुचित दल बनाकर यह नहीं कह जाते कि तुमलोगों की संतान परम्परा का कल्याण मेरी अयोग्य संतान परम्परा या पतित शिष्य परम्परा के अधीन ही सदा-निगडित रहेगा। दूसरे बिद्वानों की बातको वे सुनेंगे तो धर्मसे विचलित हो जांयगे।

सब ही मत अनादि हैं, तत्तत् अधिकारियों की तत्कालीन वैयक्तिक योग्यता को लक्ष्यकर पूतात्माओं के द्वारा प्रचलित किये गये हैं प्रजाका सांप्रदायिक व्यावहारिक वर्गीकरण आधुनिक है। दुर्भावना के कारण आदर्श—विद्वानो के नाम से उन के असमर्थ उत्तराधिकारियों के द्वारा प्रचलित किया गया है जो विघटन का हेतु, होनेसे सर्वथा अमान्य है।

संप्रदाय के रहस्य के ज्ञाता विद्वान होते हैं—अपठित किसी भी व्यक्ति को सांप्रदायिक कहना कहलाना निरा भ्रम है। अपठित प्रजा का यह धर्म हैं कि वह यथाशक्ति शास्त्र के ज्ञाताओं से ज्ञात अपने—अपने स्वधर्मका—वर्णधर्मका पालन करे तथा सब

विद्वानों का योग्य आदर करे। अज्ञान वश पूज्य विद्वान् की उपेक्षा कर अपठित, अविश्वस्त, पाखण्ड पूर्ण व्यक्ति का अनुयायी न बने। विद्वानों के आदर बढ़ने से विद्वानों की वृद्धि होगी, भारतीय संस्कृति का अभ्युत्थान होगा, पूर्ववत् गोरक्षा आदि धर्म कृत्य स्वतःसंपन्न होने लगेंगे इस शुभ भविष्य पर ध्यान देता रहे।

अस्तु " **गतंन शोचामि** "। अब इस विषय पर विचार करना आवश्यक है कि बर्तमान काल में गौओं की रक्षा कैसे हो सकती हैं ? यह तो लेखक ने पहले ही कहा है कि इस प्रश्न के उपस्थित होने पर मुझे भय उपस्थित हो जाता है।

यह जानकर हर्ष होता है। कि कुछ धनवान् गृहस्थ गोरक्षा-की आवश्यकता को समझ ने लगे हैं। इस आवश्यकता के समर्थक गो-भक्त भी मिलने लगे हैं। चर्चा का आरम्भ हो गया है अल्प स्वल्प स्वरूप में गोरक्षा भी प्रचलित हो गई है। तथापि यह देखकर खेद होता है, कि शाखा का तो सिञ्चन किया जाता है, पर मूल में पानी नहीं दिया जाता है।

शहरों में गौओं के वालक मर जाते है, या मारे जाते हैं इनको बचाने का प्रयत्न नहीं किया जाता और उन संस्थाओं के साथ संघर्ष किया जाता है, जिन का सम्बन्ध गवर्नमेन्ट या मुसलमानों के साथ है। जिस में आरम्भ सेही विशेष विघ्नों के उपस्थित होने की संभावना हैं।

सर्व प्रथम कलकत्ता बम्बई आदि शहरों में इस प्रबन्ध की आवश्यकता हैं जहां दूध के व्यापारी हिन्दुओं के द्वारा भी गौओं के बालक मारे जाते हैं। तथा दूध देने में असमर्थ गौंए कसाइयों के हाथ बेची जाती हैं। शहरों में गौ और गो—सन्तानों की रक्षा का प्रबन्ध हो जाने पर ही अन्यत्र गोरक्षा का कार्य व्यवस्थित रूप से प्रचलित होगा। तथा मृतबत्सा के दूध से होती हुई हिन्दू धर्म की क्षति से प्रजा निवृत्त होगी। मृतबत्सा गौका दूध पीना महापाप है, आयुर्वेद की दृष्टि से भी हानि कर है, ऐसे दूध से देव-कार्य पितृ-कार्य करना धर्म नहीं प्रत्युत अधर्म है।

यह कार्य जिस उपाय से हो सकेगा उसके उल्लेख से पहले यह निवेदन कर देना आवश्यक मालूम होता है कि गोरक्षा का प्रश्न के साथ अन्य जीवों की रक्षा का प्रश्न सम्मिलित न किया जाय। इस कार्य के संपन्न हो जाने के बाद ही दूसरे जीवों की रक्षा का प्रश्न उपस्थित किया जाय। गो रक्षा से आरम्भ कर बकेरे मुर्गे खटमल रक्षा पर्यन्त के प्रश्नों को एक सांथ उपस्थित करने पर किसी की भी रक्षा नहीं होती है और कार्यकर्त्ताओं में मत भेद उपस्थित हो जाता है।

शहरों में सर्व प्रथम गोरक्षा के प्रयोग की परीक्षा की जाय। शहर के निकट अधिक पूमाण में जंगल भूमि खरीदी जाय या सरकार से मांग कर ली जाय। वहां हजारों गौओं के रखने का प्रबन्ध किया जाय। गौओं के या उनके दूध के व्यापारियों से यह कह दिया जाय

कि तुम लोग यहां बहुत कम खर्च से गौओं को रख सकते हो अथवा अपने-अपने लिये गौओंका तबेला बना सकतेहो। जो गौ किसी कारण बेचने लायकहो जाय उसको इस संस्था में बेंच सकते हो। इस बात का भी प्रबन्ध रखा जाय कि जिस गृहस्थको अपने खर्च से गौ रखनेकी इच्छा हो वह रख सके; दूध कम हो जाने पर उस गौ को संस्था को देकर दूध देने वाली दूसरी गौ को मोल ले सके। या परिवर्तन में जो उचित मूल्य लगे उसको देकर अपनी गौ को फिर लेने की इच्छा से दूसरी गौ ले सके, अनुपात से नौकरों का खर्च देकर घर पर ही दूध मंगा सके।

इस व्यवस्था के आरम्भ में कमसे कम २५ लाख रुपये की आवश्यकता होगी। सुचारू रूप से संस्था के प्रचलित हो जाने पर जनता को जीवित वत्सा गौओं का शुद्ध दुध मिलने लगेगा। शहरों से गौ और गौ-वंश के वध का होना सदा के लिये दूर हो जायगा। व्यापार के रूपमें संस्था के प्रचलित हो जाने पर वार्षिक व्यय बहुत कम होगा। संस्था बच्चे या तरुण बैलों का विक्रय भी प्रचलित रखेगी, दूध देने वाली गायों का भी विश्वासपूर्वक क्रय-विक्रय प्रचलित रखेगी। इस प्रकार शहरों में गोरक्षाका प्रबन्ध हो जाने से गोरक्षक महाजनों को उत्साह प्राप्त होनेपर जिलाओं में भी इस प्रकार की संस्थाओं का बनना सुलभ हो जायगा। २५ लाख रुपयेका व्यय केवल बम्बई कलकत्ता की गोरक्षा के आरम्भ में अपेक्षित हैं जो लोग मठमंदिरों में लाखों का व्यय करते हैं उनके लिये यह धन अधिक नहीं है।

दिहातों के लिये तात्कालि गोरक्षका उपाय यह हैं कि गो भक्तोंके व्ययसे योग्य सौ दो सौ वैतनिक प्रचारक नियोजित किये जांय। ये लोग मेलों में तथा ग्रामों में घूम-घूमकर केवल शाब्दिक गो रक्षा का प्रचार करें। देशी राजाओं से तथा प्रमुख जमीदार और साहूकारों से ऊपर बताई गई संस्थाओं के अनुसार संस्था स्थापित करनेका अनुरोध करे। इस प्रबन्धके लिये भी आरम्भ में कमसे कम २५ लाख रुपये का स्थायी फंड अपेक्षित होगा। इस एकही फंडसे संपूर्ण भारत वर्ष में गोरक्षाका प्रचार हो सकेगा संभव है कि प्रचार बढजानेसे गौओं के प्रति हिन्दुओंके आदरभाव बढता जायगा। ५० लाख धनके संग्रह को असाध्य मानकर गो भक्तों को हतोत्साह न होना चाहिए यदि बडे-बडे धनवान् और राजे-महराजें इस कार्य में सहयोग प्रदान करेंगे तो इस कार्य का सम्पन्न होना सहज होगा। इस कार्य के आरम्भ में ही कार्यकर्त्ताओं को इस लिये सावधान हो जाना चाहिये कि यह संस्था भविष्य में किसी चलते पूर्जे लोकचतुर व्यक्तिकी सम्पत्ति न बन जाय। अन्यथा परिणाम वही होगा जो आज दिन धार्मिक धनकुबेर संस्थाओं का होरहा है।

धनवान् यदि आलस्य को तथा मर्यादाभंग की आशंका को न रख कर सुविधा के अनुसार अनेक गौओं का संग्रह करे तो संभव है कि शहरों में गो वंश की बाल हत्या अति शीघ्र बन्द हो जाय। धनवान् लोग यह समझते हैं कि अधिक गौओं के प्रबन्ध में कालक्षेप होगा तथा प्रयोजन से अधिक दूध को वेच देने में मर्यादा की

हानी होगी, यही कारण है कि सामर्थ्य के होने पर भी अधिक गौओं को संग्रह नहीं करते। मेरी रायमें गौ और गौ वंश की रक्षा के उद्देश्य से धनवान् यदि इस व्यापार को हस्तगत करेंगे तो अवश्य ही मर्यादा के पालक बनेंगे भगवान् श्रीकृष्ण के कृपापात्र बनेंगे नन्दराज और राजा विराट के समान गौ भक्त माने जायंगे।

वर्त्तमान दूध के व्यापारी प्रायः दरिद्र हैं, दरिद्रता मनुष्य के विचार शक्तिको नष्ट कर देती है। दरिद्रता को दूर कर धन बढ़ाने की लिप्साके बढ़ जाने पर विवेक शक्ति घट जाती है, विवेक हीन व्यक्ति धर्माधर्म के विचार को छोड कर अपने उद्देश्य की सिद्धि में तल्लीन हो जाता है। दूध के व्यापारियों की भी यही गति है। इनको इस बात की चिन्ता नही है कि हम हिन्दू हैं, गोवंश के रक्षक हैं; इनका भक्षक क्यों वनते हैं, इस पाप से बच कर रहेंगे तो स्वल्प लाभ का ही परिणाम इह लोक तथा परलोक में सुखप्रद बनेगा।

धनवान् इस कार्य को करेंगे तो विशेष लाभ का ध्यान नहीं रक्खेंगे। कथमपि गोवंश की रक्षा से अलग नहीं होंगे। नौकरों के द्वारा इस कार्य को सुगमता से कर सकेंगे। जो लोग बडे बडे मिलों का प्रबन्ध नौकरी के द्वारा करते हैं। उन के लिये अमुक गौओं की संस्था का प्रबन्ध कथमपि असाध्य नहीं होगा। धनवान् लोग इस कार्य को नहीं करते इस का एक मात्र यही कारण है, कि वे लोग इस कार्य को तुच्छ समझते हैं. तथा इस तुच्छ कार्य से मर्यादा भंग की आशंका करते हैं। परन्तु यह उन की आशंका केवल भ्रम-मूलक

हैं। विचार दृष्टि से देखा जाय तो यह कार्य मर्यादा का वर्द्धक है। इस के द्वारा गौओं की रक्षा होगी. जनता को जीवितवत्सागौका शुद्ध दूध प्राप्त होगा. हजारों नौकरों को जीविका प्राप्त होगी।

जो लोग इस संदेह में पड़े हैं कि दूध का व्यापार पापजनक है उनको यह जान लेना चाहिये कि सब जातियों के लिये दूध का विक्रय पापजनक नहीं है। गो-रक्षा जिनका धर्मही है उन के लिये दूध विक्रय पापजनक कैसे हो सकता है। जिन लोगों के लिये दूध विक्रय बर्जित है, वे लोग भी जीविका के निमित्त दूध विक्रय नहीं कर सकते। गोहत्या की निवृत्ति तथा शुद्ध दुग्ध प्रदान द्वारा जनता के हित के उद्देश्य से दूध का विक्रय खुशी से कर सकते हैं इस दूध विक्रय को गो-वंश के प्राणोंका प्रत्यर्पण समझ सकते हैं।

धर्म्माधर्म्म का निर्णय सहज नहीं है इसके निर्णय में पूर्ण रूपसे धर्मशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। वापीकूप तडागादि के भंग को महापाप कहा गया है, परन्तु राजप्रकरणमें राज्य रक्षा के निमित्त शत्रु के वापीकूपतडाग आदि के भंग की आवश्यकता बतलाई गयी है। कर्ता के उद्देश के साथ धर्माधर्म का सम्बन्ध व्यवस्थित रहता है। अधिकारी और परिस्थिति के भेद से इसका स्वरूप भिन्न हो जाता है। अवैध पशुहिंसा तथा अवैध मांस भक्षण दोनों ब्राह्मणो के लिये नितांत वर्जित हैं, रस विक्रय ब्राह्मणों को वर्जित है; परन्तु यज्ञीयबध तथा रसभोजन वर्जित नहीं है। बैल के पीठपर बैठकर

चलना वर्जित है, परन्तु बैलगाडीपर बैठना उस प्रकार वर्जित नहीं है। इस विषय पर विशेष विवेचन से विषयान्तर और ग्रन्थविस्तार का प्रसंग आजायगा अतः इस विषयपर विशेष रूपसे विचार न कर यह कह दिया जाता है, कि धनवान् निःशंक होकर निर्दिष्ट उपाय से गो-वंश की रक्षा करें।

वर्तमान समय में सभा, समिति, गोशाला, गोग्रास-भिक्षा, गोचर भूमि त्याग आदि उपायों के द्वारा गो रक्षा का प्रबन्ध किया जाता है "**अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः**" इस न्याय से यह प्रबन्ध भी अच्छा ही कहा जा सकता है। इससे गोरक्षा हो या न हो गोरक्षा की चर्चा जागृत रहती है, चर्चा को जागृत रखना अत्यन्त आवश्यक है, इस कार्य में सावधानी की विशेष आवश्यकता है। भाग्यहीन भारत वर्ष में अनेक ऐसे लोकचतुर पुरुष विद्यमान हैं जिन्हें धनवानों को अनुकूल बनाकर स्वकीय कार्य को सिद्ध कर लेना भली-भांति आता है। धनवानों की रुचि के अनुसार ये लोग अपना स्वरूप बना लिया करते हैं, गो भक्त धनवानों के यहां गो भक्त बन कर उपस्थित हो जाते हैं. विद्या प्रेमी गृहस्थों के यहां विद्या प्रेमी बन कर विद्यालय का चिट्ठा लेकर उपस्थित हो जाते हैं। मठ, मंदिर प्रेमी गृहस्थों के यहां मठ-मंदिरों के जीर्णोद्धार या नवीन निर्माण के खर्डा को लेकर उपस्थित हुआ करते हैं, देश-भक्त गृहस्थों के यहां सभा समितियों के प्रचारक बनकर उपस्थित हो जाते हैं; नाटक के पात्रों के समान सब प्रकार के नेपथ्य तथा उनके धारण की कला इनके पास विद्यमान

रहती है। आलस्य से मुक्त होकर इनकी परीक्षा आवश्यक है अन्यथा धन के दुरुपयोग की सम्भावना है।

यह देखने में आता है कि हिन्दू लोग जब-जब गोरक्षा का प्रश्न उठाते हैं तब-तब मुसलमान लोगोंके उत्तेजित होने की आशंका उपस्थित की जाती है। स्वयं या किसी की प्रेरणा से सामान्य कोटि के मुसलमान उत्तेजित हो भी जाते हैं। उसका कुफल यह होता है कि गोरक्षा का प्रश्न तो अलग ही रह जाता है पर हिन्दू मुसलमानों में परस्पर कलह उत्पन्न हो जाता है। यह न होनें पावे इसलिये भी किसी न किसी मृदु उपाय का होना आवश्यक हैं।

हिन्दू और भारतीय मुसलमान इन दोनों की जन्मभूमि भारत भूमि है। इस भूमि को छोडकर किसी एक को कहीं अन्यत्र जाने का संभव नहीं है इन दोनों का पारस्परिक सद्भाव दोनों के सुख का संरक्षक हैं। इनका आपसी वैमनस्य दोनों के क्लेश का सम्वर्द्धक है। विचारपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों के मानसिक वैमनस्य का प्रबल कारण गो-बध का प्रश्न है यदि मुसलमान चाहें तो इस प्रश्न को हल कर सकते हैं। हिन्दुओं का भी कर्तव्य है कि इस प्रश्न को हलकरने का अधिकार सुहृद्भाव से इन्हीं को दे दें।

सुहृदय मुसलमानों के हृदय में किसी मृदु उपाय से इस भावना को उत्पन्न कर देना आवश्यक है, कि मुसलमानों को गोबध से विशेष लाभ नहीं है। जितने मुसलमान कसाई खाने में काम करते हैं वे यदि इस काम से अलग हो जायंगे तो उनको जीविका दिलाने

भी नहीं हो सकती। देशहित का तात्पर्य है देश के अधिकार की प्राप्ति और उसका यथोचित संरक्षण, इन दोनों के भार का वहन वही समुदाय कर सकता है जिसने पहले अपना जातीय उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है। जिसको यह शंका बनी है कि मुसलमानों के विरोध से हम देश के अधिकार की प्राप्ति नहीं कर सकते तो यह निश्चय है कि वह जाति (हिन्दू जाति) दैवयोग से अधिकार के प्राप्त हो जाने पर भी पीछे ही रहेगी।

मुझे विश्वास है कि हिंन्दू लोग यदि शुद्ध भाव से यह निश्चय कर लेंगे कि जहां तक मुसलमान लोग गोवध में सहयोग देते रहेंगे वहां तक हम किसी भी वैयक्तिक व्यवहार में मुसलमानों के साथ सम्मिलित नहीं रहेंगे; तो अवश्य ही मुसल्मानों को गोवध के सम्बन्ध में विचार करना पडेगा। मुसल्मानों का स्वार्थ जहां तक दुर्वल न होगा वहां तक हिन्दुओं के अनुरोध की उपेक्षा करते ही रहेंगे। जव इनको यह मालुम हो जायगा कि हिन्दुओं के साथ व्यवहार के वन्द हो जाने से हमारे स्वार्थ में क्षति पहुंचने लगी है तो ये शनैः शनैः हिन्दुओं की वातों का समर्थन करने लेंगेगे। यद्यपि मुसलमान लोगों ने १९२१ ई० से १९४१ ई० तक हिन्दुओं की अदूरदर्शिता के कारण त्यक्त हिन्दुओं के जीविका क्षेत्र से अपनी जीविका क्षेत्र को विपुल वना लिये हैं तथापि अब से भी यदि एक मत से हिन्दू-जाति इनके साथ व्यवहार बन्द कर देगी तो इनके स्वार्थ में अवश्य क्षति पहुंच्नेगी।

मुझे यह शंका है कि जो दल मुसलमानो के सहकार के विना अपने ध्येय की सिद्धि में सुशंकित है वह दल ऊपर वताये गये उपायों से सहमत नहीं होगा। इसलिये यह कह देना आवश्यक है कि जिस हिन्दू को गोरक्षा मान्य हैं वह उस दल के बातों पर या बडे बडे प्रलोभनो पर ध्यान न दे। देश का प्रश्न दोनों जातियों के लिये एकसमान महत्व का है। उसी प्रकार निज-निज जातियों का उत्कर्ष भी कर्तव्य रूप से एक समान है। हिन्दुओं से हमारी प्रार्थना है कि अव से भी सावधान हो जांय। जिन लोगों का हिन्दू धर्म में अथवा गोरक्षा में प्रेम नहीं है उनके वाग्जालों में फसकर हिन्दू धर्म की महिमा और गोरक्षा की महिमा को न भूल जांय। जिसंके हृदय में गोरक्षा को स्थान प्राप्त नहीं है उस हिन्दू द्वारा हिन्दू जाति का कल्याण कथमपि संभाव्य नहीं है।

कुछ हिन्दू ऐसे हैं जो गोरक्षा के लिये कौन्सिलों का शरण लेना पसन्द करते हैं। उनको यह जान लेना आवश्यक है कि यदि हम बाहर रहकर जहां कि हिन्दुओं का बहुमत है गोरक्षा नहीं कर सकते तो हम कौसिल के द्वारा गोरक्षा का प्रबन्ध कैसे कर सकेंगे? कौन्सिल के अधीश्वर सरकार भी तो गोरक्षा का पक्षपाती नहीं है।

गो प्रेमी बनकर हिन्दुओं को अपनाने के लिये वडे-वडे अधिकारी लोगों ने भी जो गो रक्षा का नवीन प्रकार उत्पन्न किया है। वह केवल प्रतारक मनोराज्य है। इनका कहना कि देशान्तर से बडे-बडे सांढ मंगाये जांय और उनके द्वारा गो वंश के शरीर की

अपनावें तथा इस रहस्य को ध्यान में रक्खें कि सब प्रकार से भावना की शुद्धि के हो जाने पर ही ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त होती है। इस प्रसन्नता के प्राप्त हो जाने पर कार्यकर्त्ताओं को वह प्रतिभा प्राप्त होगी जो गोरक्षा के विविध उपायों का पथ-प्रदर्शक बनेगी तथा गोरक्षा के विरोधियों के हृदय में भी गोरक्षा की भावनाको उत्पन्न करेगी !

गोभक्तों को उस गोरक्षक दलसे सावधान रहना होगा जिसका नेता, हिंदुत्वका सर्वस्व विवाह सम्बन्ध को नहीं मानता है, मुसलमान पारसी के साथ ब्राह्मण कुमारी के व्याह का अनुमोदन करता है तथा ऐसे विवाहों की वृद्धि की आशा करता है। जनता जान सकती है कि जो गोमांस को खाद्य माननेवाली जाति को कन्या का अर्पण पसन्द करता है वह किस प्रकार उन्हीं जातियों से गौओंकी रक्षा कर सकता है। ऐसे लोगों के गोरक्षा का पूयत्न धनवान् गोभक्तों को अपनीं माया में लाने का महामन्त्र है। इतिशम्—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमोनमः ॥

॥ शुभम् ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	४	दातृणां	दातॄणां
२	४	अभिलाषित	अभिलषित
६	४	ग्रसित	ग्रस्त
७	९	वस्त्र	सत्र
१४	१६	देकर	दिया करो
१६	१९	सम्मार्शिनः	सम्मर्शिनः
१८	१३	कल्याणपरस्परा	कल्याणपरंपरा
२३	१२	मवाप्रोति	मवाप्नोति
२५	१३	विप्राऽपरगति	विप्राःपरागति
२८	५	निर्दोषमगुणा	निर्दोषमगुणेऽ
३१	४	तृष्णानि	तृणानि
३७	७	खकर	देखकर
४२	१७	इतिहासासों	इतिहासों
४३	२०	कीर्तिधमौ	कीर्तिधर्मौ
४३	२१	सारमाहेर	सारमाहरेत्
४६	२०	समान।	समान है।
४८	६	श्रुणोति	शृणोति
५३	१७	पृष्टपेषण	पिष्टपेषण
५८	२	दृष्टिकारण	दृष्टकारण
६५	४	मन्दराज	नन्दराज
६५	१७	नौकरी	नौकरों

मुद्रक : रामप्रताप शुक्ल,
विद्यालय–प्रेस
२३, हमाम स्ट्रीट–फोर्ट–बम्बई.